

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गत-षष्ठं



# नवरत्नम् ।



(श्लोकार्थ, श्रीप्रभुचरणकी संस्कृत टीका का हिंदी व गुजराती अनुवाद, श्रीपुरुषोत्तमचरण,  
श्रीविद्वल्लेशात्मजश्रीवल्लभ और श्रीलालूमट्टजीकी संस्कृत  
टीकाओंके हिंदी-अनुवाद, श्रीमुरलीधरभट्टजी की संस्कृत टीका एवम्

गोपालकेतिनी

टीका सहित)



□ संपादक व लेखक □

गोस्वामी राजकुमार

□ प्रकाशक □

गोस्वामी राजकुमार नृत्यगोपालजी

"चरणाट" बंगला नं. ५, ठाकुर विलेज, ठाकुर डिग्री कॉलेज के सामने,  
कांदिवली (पूर्व), मुंबई - ४०० १०१. • दूरभाष : २८८४ ६५०६  
वि. सं. २०६२ • वल्लभाब्द ५२८

प्रति : १०००

श्रीमद्-वल्लभाचार्य-महाप्रभु-विरचित-षोडश-ग्रन्थान्तर्गतः- षष्ठं

# नवरत्नम् ।

## अनुक्रमणिका

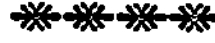
क्रमांक	प्रकरण	पृष्ठसंख्या
१.	नवरत्नम् (मूल पाठ) .....	१
२.	श्लोकार्थ .....	३
३.	श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितप्रकाशटिप्पणम् (गुजराती अनुवाद सहित).....	५
४.	श्रीपुरुषोत्तमजीकृतटीका.....	१८
५.	श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणम्.....	४८
६.	श्रीमुरलीधरजीकृत (केवल संस्कृत टीका).....	६४
७.	श्रीलालूभट्टनां लेखः.....	७१



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

## श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचित

### नवरत्नम् ।



चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति<sup>१</sup> ।  
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥  
निवेदनं तु<sup>२</sup> स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।  
सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥  
सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।  
अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥  
अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।  
यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥  
तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।  
विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥  
लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।  
पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥  
सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं<sup>३</sup> वा हरिच्छया ।  
अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥ ७ ॥  
चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।  
तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥  
तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।  
वदद्भिरेवं<sup>४</sup> संततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥  
इति श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणप्रकटितं नवरत्नं समाप्तम् ॥



१. 'इति' रहितोऽपि पाठः क्वचित् । २. 'च' इति श्रीमुरलीधरभट्टसंमतः पाठः । ३. 'अबाधनम्' इति वैकल्पिकच्छेदोऽपि ।

४. 'एवं' इत्यपि पाठः श्रीप्रभुचरणानामिष्टः । श्रीमुरलीधरभट्टानां तु 'एवं' इत्येव ।

# श्लोकार्थ



चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।

भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

निवेदितात्माओं को कभी भी, कोई भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। भगवान पुष्टिस्थ हैं अतः वे लौकिक गति नहीं करेंगे।

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशीर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

तादृशीजनो को निवेदन का स्मरण तो सर्वथा करना चाहिए। भगवान सर्वेश्वर हैं एवं सर्वात्मा हैं; वे जो करेंगे उनकी अपनी इच्छा से करेंगे।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोपि चेत् ॥ ३ ॥

आत्मनिवेदन करते समय निवेदनकर्ता से जुड़े सभी का संबंध प्रभु से हो जाता है, केवल निवेदनकर्ता का संबंध होता हो ऐसा नहीं है। आत्मनिवेदन की प्रक्रिया में इस प्रकार की मर्यादा है। अतः यदि निवेदनकर्ता का उन लोगों में विनियोग होता भी हो अथवा तो उससे जुड़े लोगों का प्रभु के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं विनियोग होता हो, तो भी चिन्ता नहीं करनी।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

अज्ञान से या ज्ञान से प्रभु को आत्मनिवेदन किया हो, जिसने अपने प्राणों को श्रीकृष्ण के अधीन कर दिया उन्हें कैसी चिन्ता? तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।

विनियोगेऽपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥५ ॥

उपर्युक्त प्रकार से श्रीपुरुषोत्तम में किए गये निवेदन की चिन्ता त्याग देनी चाहिए। जीव का विनियोग प्रभु से अतिरिक्त कहीं अन्यत्र विनियोग हो रहा हो, तो भी चिन्ता त्याग देनी चाहिए क्योंकि हरि स्वयं सभी कुछ करने में समर्थ हैं।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

भगवान पुष्टिमार्ग में स्थित हैं अतः वे लौकिक-वैदिक में सफलता प्रदान नहीं करेंगे। अतः भगवान के कार्यों को केवल साक्षी बनकर देखते रहो।

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरिच्छया ।

अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्वीयतां सुखम् ॥ ७ ॥

भगवत्सेवा गुरु-आज्ञा के अनुसार करनी चाहिए। किंतु यदि स्वयं हरि की इच्छा हो तो गुरु-आज्ञा का बाधन हो सकता है। अतः चित्त को सेवापर करके सुख से रहना चाहिए।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

चित्त में उद्वेग कराकर भी हरि जो-जो करेंगे, वह-वह-उनकी लीला है, यह मानकर चिन्ता शीघ्र त्याग देनी चाहिए।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।

बदद्भिरेवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

अतः सभी प्रकार से नित्य "श्रीकृष्णः शरणं मम" सतत बोलते हुए रहना चाहिए, यही मेरी मति है।

श्रीकृष्णाय नमः ।

# नवरत्नम् ।

श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।



चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पदाम्बुजरेणवः ।

स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भवः । इत्यम् । आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः, नेतरे । तत्र चैहिकपारलौकिकयोर्ययोर्नावशिष्टं किञ्चिदसमर्पितम् । एवं सति देहादिनिर्वाहः केन कार्यः, किं निवेदितार्थेन, उत इतरेण वा । तत्र नाद्यः । तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् । वस्तुतस्त्विच्छायामपि सत्यां तदुपयोगोऽनुचितः सेवकस्य । न च तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषायेति वाच्यम् । स्वतस्तयाकृतेर्दोषावहत्वात्तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादित्युक्तम् ।

जेमना चरएकमलोनी रेषु स्वीयजनोनी चिंता अने तेनी परंपरा (अर्थात् चिंताओनी श्रृंखलाओ)नो नाश करी दे छे अेवा निजजनोना आचार्य - श्रीमहाप्रभुएने हुं वारंवार प्रणाम करुं छुं.

सर्व प्रथम अहि आ शंका थाय छे के भगवदीयोने क्या प्रकारनी चिंता थाय छे ? अने ते आ माटे, कारएके आत्मनिवेदन करवावाणा न निश्चित रूपथी भगवद्-भजनने योग्य अने छे, बीजा नहीं. अने आत्मनिवेदन करी लीधा पछी तो लौकिक अथवा अलौकिक कोरपण प्रकारनी वस्तु असमर्पित रही जाती नहीं. तेथी, जे अंधुं न भगवानने समर्पित थई यूझुं छे तो देह वगेरेनो निर्वाह क्या द्रव्यथी करवो जेईअे? शुं प्रभुने निवेदीत थई यूझ्या आ द्रव्यथी? अथवा तो प्रभुने जे द्रव्य समर्पित न थयुं होय तेवा अनिवेदीत - द्रव्यथी ?? आवी शंका थाय छे. (टीकाकारे अंधुं न भगवानने समर्पित करी दीधा पछी देहनो निर्वाह केवी रीते करवो? आ प्रश्नना उत्तरमां जे पक्ष यूझ्या छे. प्रथम आ के शुं भगवानने निवेदीत थयेला द्रव्यथी देह निर्वाह करवो? अेवम बीजे पक्ष आ के शुं भगवानने निवेदीत न थयेला अनिवेदीत द्रव्यथी देह निर्वाह करवो? आ अत्रे पक्षोनुं सपष्टीकरण हवे आपश्री आगण आपी रह्या छे.) आवी परिस्थितिमां प्रथम पक्ष उचित नहीं. कारएके भगवानना द्रव्यने अेभनी ईच्छा वगर ग्रहण करवुं अशक्य छे. अने अेभनी ईच्छा ज्ञानी लेवी पण अशक्य छे. अरेअर तो आवी ईच्छा ज्ञानी लीधा पछी पण सेवक माटे तो भगवानना द्रव्यनो पोताना माटे उपयोग करवो अनउचित न छे. अने अेवुं कहेवुं योग्य नहीं के भगवदीयोना देह आदीनुं पोषण जे भगवानना द्रव्यथी थयुं होय तो तेमां दोष नहीं कारएके जे भगवदीयो पोते पोताना मनथी आवुं करे तो तेमां दोष छे अने आवी रीते करवामां भगवाननी ईच्छा ज्ञानी लेवी पण अशक्य छे वगेरे वातो अमे पहलेलां कही यूझ्या छे.

जिनके चरणकमलों की रेणु स्वीयजनों की चिंता एवं उसकी परंपरा (अर्थात् चिंताओं से होनेवाली श्रृंखलाएँ) का नाश कर देती है,

ऐसे निजजनों के आचार्य-श्रीमहाप्रभु को मैं वारंवार प्रणाम करता हूँ ॥१॥

सर्वप्रथम यहाँ यह शंका होती है कि, भगवदीयों को कैसे प्रकार की चिंता हो सकती है ? वह इस कारण, क्योंकि आत्मनिवेदी ही निश्चित रूप से भगवद्-भजन के योग्य होते हैं, अन्य नहीं । और, आत्मनिवेदन कर लेने पर तो लौकिक अथवा अलौकिक किसी भी प्रकार की वस्तु असमर्पित नहीं रह जाती है । अतः यदि सभी कुछ भगवान को समर्पित हो चुका है तो देहादि का निर्वाह किस द्रव्य से करना चाहिए ? क्या निवेदित हो चुके द्रव्य से अथवा प्रभु को समर्पित न किए गये अनिवेदित-द्रव्य से? यह शंका होती है । (टीकाकार ने सभी कुछ भगवान को समर्पित कर देने के पश्चात् देह का निर्वाह कैसे करना? इस प्रश्न के उत्तर में दो पक्ष रखे हैं । प्रथम यह कि क्या भगवान को निवेदित किए गये द्रव्य से करना ? एवं दूसरा पक्ष यह कि-क्या अनिवेदित से करना? इन दोनों पक्षों का स्पष्टीकरण

अब वे आगे दे रहे हैं ।) ऐसी परिस्थिति में प्रथम पक्ष उचित नहीं है । क्योंकि भगवान के द्रव्य को उनकी इच्छा के बिना ग्रहण करना अशक्य है एवं उनकी इच्छा ज्ञात होनी भी अशक्य है । वास्तव में तो उनकी इच्छा ज्ञात हो जाने पर भी सेवक के लिए तो भगवान के द्रव्य का उपयोग करना अनुचित ही है । और ऐसा नहीं कहना चाहिए कि भगवदीयों के देह-आदि का पोषण यदि भगवान के द्रव्य से होता हो तो उसमें दोष नहीं है, क्योंकि यदि भगवदीय स्वयं अपने मन से ऐसा करेंगे तो उसमें दोष है एवं ऐसा करने में भगवान की इच्छा को जानना भी अशक्य है इत्यादि बातें हम पूर्व में कह ही चुके हैं ।

न द्वितीयः, अस्वधर्मत्वात् । निवेदितस्यार्थस्य स्थित्याद्यर्थ स्वस्य विचारस्याप्यनुचितत्वात् । तदभिमाने तत्सम्भवात् । एवं सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात्तद्वैयर्थ्यापातः । मार्ग एव चायमुच्छिद्येत । अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः पाशा रज्जुरिति चेत् । अत्र बदामः । “दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्” । “एवं धर्मैर्ननुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्योस्यावशिष्यत” इत्यादिवाक्यैस्तदावश्यकम्, साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशसंस्कारवत् । (निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्धयर्थमावश्यकव्यवहारार्थं निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः ।) अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदनेऽकृतेऽग्रे तद्विनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः ।

बीजे पक्ष પણ ઉચિત નથી કારણકે ભગવાનને નિવેદિત ન થયેલી અનિવેદિત વસ્તુ ગ્રહણ કરવી આપણો સ્વધર્મ નથી. ભગવાનને નિવેદિત થઈ ચૂકેલી વસ્તુઓથી આપણા જીવનનું ભરણપોષણ કરવાનો વિચાર પણ આપણા માટે અનુચિત છે. પોતાના દેહાભિમાનના કારણે જ આપણા મનમાં આવો વિચાર આવી શકે છે. આ પ્રકારે તો જીવના દેહ વગેરેનો નાશ પણ સંભવી શકે છે. અને તેથી ભગવદ્-ભજન પણ અસંભવ થઈ જવાથી તે જીવ દ્વારા ભગવાનને અહંતામતાના ત્યાગપૂર્વક કરેલું નિવેદન પણ વ્યર્થ થઈ જાય છે. અને આવી રીતે તો આ માર્ગ જ વ્યર્થ બની જાય છે. તેથી ઉપર્યુક્ત સંદર્ભોનો વિચાર કરીએ તો સમસ્યા આ ઉત્પન્ન થાય છે કે આપણું સર્વસ્વ ભગવાનને નિવેદન કર્યા પછી જ ભગવદ્ - ભજનનો અધિકાર પ્રાપ્ત થાય છે. અને સર્વસ્વ નિવેદન કર્યા પછી ભગવાનને નિવેદિત થયેલી વસ્તુઓથી આપણે નિર્વાહ નથી કરી શકતા. આવી રીતે તો “આગળ કૂવો તો પાછળ ખાઈ” (ઉભયતઃ પાશારજ્જુ) જેવી પરિસ્થિતિ બની જાય છે. તેથી હવે અમો આ સમસ્યાનું સમાધાન કહી રહ્યા છીએ. અહિં આ સમજવું જોઈએકે, “સ્ત્રી, પુત્ર, ઘર, પ્રાણ વગેરે જે કંઈ પ્રિય લાગતું હોય તેને ભગવાનને નિવેદિત કરવું જોઈએ (શ્રી. ભા. ૧૧/૩/૨૮)”, “હે ઉદ્ધવા જે આ ધર્મોનું પાલન કરે છે અને મારા પ્રત્યે આત્મ નિવેદન કરી દે છે, તેમની મારામાં ભક્તિ ઉત્પન્ન થઈ જાય છે. ત્યારે તેમના માટે બીજું શું બાકી રહી જાય છે? (શ્રી. ભા. ૧૧/૧૮/૨૪)” વગેરે વાક્યોથી સિદ્ધ થાય છે કે ભગવાનને સર્વસ્વ નિવેદન કરવું આવશ્યક છે. કારણકે નિવેદન કર્યા પછી જ સાક્ષાત્ શ્રીગોકુલેશના ભજનનો અધિકાર પ્રાપ્ત થાય છે, ઠીક તેવી રીતે જેવી રીતે કોઈ બ્રાહ્મણને ગાયત્રી ઉપદેશ થકી ઉત્પન્ન થયેલા સંસ્કારોથી જ વૈદિક કર્મો કરવાનો અધિકાર પ્રાપ્ત થાય છે. (નિવેદનની સાર્થકતા માટે, ભજન - સિદ્ધી માટે અને આવશ્યક દૈનિક વ્યવહાર માટે ભગવદ્-નિવેદિત વસ્તુઓનો જ પોતાના માટે વિનિયોગ કરવો જોઈએ.) નહીંતર વિવાહ કર્યાના બીજા જ ક્ષણે પત્નીને ભગવાનની સેવામાં નિવેદિત ન કરવાથી તે આપણા માટે અનુપયુક્ત બની જાય છે. અને તેથી તે વિવાહ કરવો જ વ્યર્થ બની જાય છે.

दूसरा पक्ष भी उचित नहीं है क्योंकि अनिवेदित वस्तु को ग्रहण करना अस्वधर्म है । भगवान को निवेदित की जा चुकी वस्तुओं से अपने जीवन का भरणपोषण करने का विचार करना भी हमारे लिए अनुचित है । अपने देहाभिमान के कारण ही हमारे मन में ऐसा विचार आ सकता है । अतः इस प्रकार से उसके देह-आदि का नाश संभव है एवं भजन भी असंभव हो जाने के कारण उस जीव का भगवान को अहंतामता के त्यागपूर्वक किया गया निवेदन ही व्यर्थ सिद्ध हो जाता है । और ऐसे में तो यह मार्ग ही व्यर्थ हो जाता है । अतः उपर्युक्त संदर्भों का विचार करने पर समस्या यह उत्पन्न होती है कि सर्वस्व भगवान को निवेदन कर देने पर ही भगवद्-भजन का अधिकार प्राप्त होता है एवं सर्वस्व निवेदन कर देने पर भगवान को निवेदित की जा चुकी वस्तुओं से स्वयं का निर्वाह नहीं किया जा सकता । इस प्रकार “आगे कुँआ तो पीछे खाई” (उभयतः पाशारज्जु) जैसी परिस्थिति बन जाती है । अतः अब हम इस समस्या का समाधान कह रहे हैं । यहाँ यह समझना चाहिए कि, “स्त्री, पुत्र, घर, प्राण इत्यादि जो कुछ प्रिय लगता हो, उसे भगवान को निवेदित करे (श्री. भा. ११/३/२८) ” हे उद्धव ! जो इन धर्मों का पालन करते हैं एवं मेरे प्रति आत्मनिवेदन कर देते हैं, उनकी मुझमें भक्ति उत्पन्न हो जाती है । तब उनके लिए और क्या अवशिष्ट रह जाता है (श्री. भा. ११/१९/२४)”, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होता है कि भगवानको

सर्वस्व निवेदन करना आवश्यक है । क्योंकि निवेदन करने से ही साक्षात् श्रीगोकुलेश के भजन का अधिकार प्राप्त होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे किसी ब्राह्मण को गायत्री-उपदेश के द्वारा उत्पन्न हुए संस्कार से ही वैदिक कर्मों को करने का अधिकार प्राप्त होता है । (निवेदन की सार्थकता के लिए, भजन-सिद्धि के लिए एवं आवश्यक दैनंदिन व्यवहार के लिए भगवद्-निवेदित वस्तु का ही अपने लिए विनियोग करना चाहिए।) अन्यथा विवाह के दूसरे ही क्षण पत्नी को भगवान की सेवा में निवेदित न करने पर आगे वह हमारे लिए अनुपयुक्त रह जाती है और इस कारण उस विवाह के ही व्यर्थ हो जाने की आपत्ति आती है ।

अपरंच । दाने हि न स्वविनियोगो, न तु निवेदने । अन्यथा निवेदिताच्चादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् । निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा, दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैः । आत्मशोधकत्वाच्च । किन्तु प्रभौ निवेदितार्थस्य विनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो, नवेति भवति चिन्ता । \*तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च । 'त्रैवर्गिकायासे'तिवाक्यात् भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च तत्र स्यात् । अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम् । एवंभूतान् स्वानुपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येति ।

अहिंसां सभङ्गं जेठं के दाननी प्रक्रियाओं पहले दानों आपेही वस्तुओं आपसे आपसा माटे उपयोग नहीं करी शकता परंतु निवेदननी प्रक्रियाओं आपुं नहीं। जे निवेदनमां पशु दान जेवुं अनी जतुं होय तो पछी भगवानने निवेदित करेला (भोग धरेला) अत्र वगेरेनुं भोजन करवुं आपसा माटे संभव नहीं थर्ष शके कारणके अनिवेदित अत्रनुं भोजन करवुं तो निषिद्ध छे। निवेदित वस्तुओंनो भगवद्-भोग माटे विनियोग थर्ष जवा पछी ते वस्तुने प्रभु द्वारा आपेल प्रसादरूपी आपसा पोताना माटे उपयोग करवानी कृति उचिततर छे, कारणके आ ज दास धर्म छे। आ ज दासधर्म "अभो आपनुं गुह्य भावावाणा दास छीअे (श्री. भा. ११/६/४६)" वगेरे वाक्योथी सिद्ध थाय छे। प्रभुनो प्रसाद तो आत्मशोधक पशु छे। परंतु समस्त वस्तुओंनो भगवानमां विनियोग करी दीधा पछी ते वस्तुओंने प्राप्त करवानो प्रयत्न करवो के नहीं? आ चिंता थाय छे। आवी रीते प्रयत्न करवा पर अहिर्भुजता अने सेवाओं प्रतिबंध थाय छे। साथे साथे, "भगवान पोताना भक्तना धर्म-अर्थ-कामसंबंधी प्रयास निष्फल करी देता होय छे। (श्री. भा. ६/११/२३)" आ वाक्यानुसार भगवान द्वारा करेलो प्रतिबंध पशु थाय छे अने जे आपसे अेवी चिंता न करीअे तो भगवानने निवेदन करवा माटे उपयोगी वस्तुओंनो अभाव होवा थी आपसाने मनमां दुःख थाय छे। तेथी पोताना आपसा चिंतातुर जेवुं सभाधान करवा माटे आचार्यचरण चिंता कापी न कार्य वगेरे शब्दोथी उपदेश करी रह्या छे।

और यहाँ यह समझना चाहिए कि, दान की प्रक्रिया में ही उस दान में दी गई वस्तु का हम हमारे लिए उपयोग नहीं कर सकते हैं, निवेदन की प्रक्रिया में ऐसा नहीं है । अन्यथा, यदि ऐसा हो तो फिर भगवान को निवेदित किए गये अन्न आदि का भोजन करना ही संभव न हो सकेगा क्योंकि अनिवेदित अन्न का भोजन करना तो निषिद्ध है । निवेदित वस्तुओं का भगवद्-भोग के लिए विनियोग किए जाने के पश्चात् उस वस्तु को प्रभु के द्वारा दिए गये प्रसादरूप से अपने लिए उपयोग करने की कृति उचिततर है, क्योंकि यही दासधर्म है । यही दासधर्म "हम आपकी जूठन खाने वाले दास हैं (श्री. भा. ११/६/४६)" इत्यादि वाक्यों से सिद्ध होता है । प्रभु का प्रसाद आत्मशोधक भी है । किंतु, समस्त वस्तुओं का भगवान में विनियोग कर देने के पश्चात् आगे भविष्य में उन वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करना अथवा नहीं ? यह चिंता होती है । इस प्रकार का प्रयत्न करने पर 'बाहिर्मुखता' एवं सेवा में 'प्रतिबंध' होता है । और, "भगवान अपने भक्त के धर्म-अर्थ-काम संबंधी प्रयास निष्फल कर देते हैं (श्री. भा. ६/११/२३)" इस वाक्य के द्वारा किया गया भगवान का प्रतिबंध भी होता है । और यदि ऐसी चिंता न करें तो निवेदन करने के लिए उपयोगी वस्तुओं का अभाव होने से दुःख होता है । अतः अपने ऐसे चिंतातुर जीवों को चिन्ता कापि न कार्य इत्यादि शब्दों से आचार्यचरण उपदेश कर रहे हैं ।

\* (किंच । तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भव इत्यारभ्योक्तचिन्ताभावायेदमत्र विचार्यते । सेवार्थं पत्रकरणे बाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिबन्धश्च न सम्भवति । तस्य सेवाङ्गत्वेन तत्पूरकत्वात् तदकरणे तदसम्भावश्च । नच 'त्रैवर्गिकायासे'ति वाक्यात्तत्र भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति वाच्यम् । त्रैवर्गिकपदवैयर्थ्यापत्तेः । अन्यथा आपासविधातमित्येतावतैव चारितार्थं स्यात् । अतः स्वकीयानां त्रैवर्गिकायासविधातमेव भगवान् करोति, न स्वसेवार्थकायासविधातमिति निश्चीयते । अन्यथा यद्वमात्रस्य निषेधे भजनमार्गं पबोच्छिद्येत । नन्वात्मनिवेदिनामितरयत्नासम्भवेन तज्जनितचिन्ताऽभावात् कथं चिन्ता न कार्येत्युपदेश इति चेत् । अत्रेदं प्रतिभाति । भजनमार्गं हि भगवद्दीकारस्त्रिविधः । पुष्टिमर्षादाप्रवाहभेदेन । तत्रापि च त्रैविध्यम् । तत्र पुष्टिपुष्टावकीकृतस्य नेतरयत्नसम्भावनापि । परं मर्षादापुष्टी प्रवाहपुष्टी चाङ्गीकृतस्य तत्करणं मर्षादाप्रवाहांनां, तद्विधातः पुष्टयः । तथा चात्मनिवेदिनां मर्षादाप्रवाहसंवलितानां पथेतरयत्ने कृते बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धतद्विधातादिकं भवति, तथा सेवार्थकपि यत्ने भविष्यतीति भवति चिन्ता, अतस्तदभावाय तान् प्रति चिन्ता कापि न कार्येत्युक्तम् । अतः सेवार्थं यत्नः कर्तव्य एवेति नानुपपत्तिः काचित् ।)

ચિન્તા કાપિ ન કાર્યા નિવેદિતાત્મભિઃ કદાપીતિ ।

ભગવાનપિ પુષ્ટિસ્થો ન કરિષ્યતિ લૌકિકીં ચ ગતિમ્ ॥ ૧ ॥

લૌકિકૈર્કતદભાવેપિ ભગવદર્થોપિ સા ન કાર્યા । એતદાહુઃ કાપીતિશબ્દેન । અઙ્ગીકારેણૈવ સર્વં સ્વત એવ કરિષ્યતીતિ વિશ્વાસો યતસ્તસ્થાવશ્યકઃ । ભગવતોપિ તથાનિયમઃ । કદાચિત્ પરીક્ષાર્થં પ્રારંભ્યભોગાર્થં વા પ્રભુશ્ચેદ્વિલમ્બતે, તદાપિ ન કાર્યેત્યાહુઃ કદાપીતિ પદેન । નનુ લોકવત્ કુદુમ્બાયાસત્ત્યા સ્વસ્યાપિ લૌકિકીં ગતિં કદાચિત્ પ્રભુઃ કુર્યાત્, તત્રાહુઃ ભગવાનપીતિ । યતઃ પુષ્ટિસ્થોઽતો મર્યાદામાર્ગીયવૈરાગ્યાદભાવેપિ 'મહાપુરુષેણ નિવેદિતા' ઇતિ સ્વકીયત્વેનાઙ્ગીકારાત્ તથા ન કરિષ્યતીત્યર્થઃ ॥ ૧ ॥

લૌકિક ચિંતા તો ન જ કરવી જોઈએ પરંતુ ભગવાન માટે પણ ચિંતા ન કરવી. આ જ વાત શ્રીમહાપ્રભુજીએ કાપી (કોઈપણ ચિંતા) શબ્દથી કહી છે. કારણકે ભગવાને જીવનો અંગીકાર કર્યો છે તેથી તેઓ પોતે જ સર્વ કંઈ કરશે-આવો વિશ્વાસ જીવે રાખવો આવશ્યક છે. ભગવાનનો પણ એવો જ નિયમ છે કે તેઓ જેનો અંગીકાર કરે છે, તેમના બધાં જ કાર્યો તેઓ સંપૂર્ણ કરતાં હોય છે. કદાચિત્ પરીક્ષા કરવા માટે અથવા પ્રારબ્ધ ભોગ કરાવવા માટે પ્રભુ ફલદાન આપવામાં વિલંબ કરે, તો પણ ચિંતા ન કરવી જોઈએ. આ કદાપિ પદથી શ્રીમહાપ્રભુજીએ કહ્યું છે. અને જો જીવને આ શંકા થાય કે જેવી રીતે અન્ય લોકોને લોકમાં આસક્તિ હોય છે, તેવી રીતે જો અમને પણ અમારા કુટુંબ અથવા તો પરિવારજનો પ્રત્યે આસક્તિ હોય તો કદાચિત્ પ્રભુ અમારી લૌકિક ગતિ કરી દે ? તો આ શંકાનું સમાધાન આચાર્યચરણો 'ભગવાનપિ' વગેરે શબ્દોમાં આપ્યું છે. કારણકે પ્રભુ પુષ્ટિમાર્ગમાં સ્થિત છે. તેથી જીવમાં મર્યાદામાર્ગીય વૈરાગ્ય વગેરેનો અભાવ પણ હોય, તો પણ મહાપુરુષ દ્વારા નિવેદિત થયા છે. આવાક્ય દ્વારા ભગવાને નિજજન માનીને તેને સ્વીકાર કર્યા છે તેથી તેઓ તેની લૌકિક ગતિ નહીં કરે આ અર્થ છે. //૧//

લૌકિક ચિન્તા તો નહીં હી કરની चाहिए પરंतु भगवान के लिए भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए । यही बात श्रीमहाप्रभुजी ने कपि कोई भी चिंता) शब्द से कही है । चूँकि भगवान ने जीव का अंगीकार किया है अतः वे स्वयं ही सब कुछ करेंगे-ऐसा विश्वास जीव को रखना आवश्यक है । भगवान का भी ऐसा ही नियम है कि वे जिसको अंगीकार करते हैं, उसके सभी कार्य वे स्वयं संपूर्ण करते हैं । कदाचित् यदि परीक्षा करने के लिए अथवा प्रारब्ध-भोग कराने के लिए प्रभु फलदान में विलंब करें, तो भी चिंता नहीं करनी चाहिए यह कदापि पद से कहा गया है । यहाँ यदि जीव को यह शंका हो कि जैसे अन्य लोगों को लोक में आसक्ति होती है, उसी प्रकार हमें भी हमारे कुटुंब या परिवारजनों के प्रति आसक्ति हो तो कदाचित् प्रभु हमारी लौकिक गति कर दें ? तो इस शंका का समाधान भगवानपि इत्यादि शब्दों से दिया जा रहा है । चूँकि प्रभु पुरिषमार्ग में स्थित हैं अतः जीव में मर्यादामार्गीय वैराग्य-आदि का अभाव भी हो, तथापि 'महापुरुष के द्वारा निवेदित हुए हैं' इस वाक्य के द्वारा भगवान ने अपना निजजन मान कर उसे स्वीकार किया है अतः वे उसकी लौकिक गति नहीं करेंगे, यह अर्थ है ॥१॥

एवं चेत्, स्वाच्छन्द्यव्यवहारापत्त्या बाहिर्मुख्यं स्यादत आहुः निवेदनमिति ।

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

सर्वदा सर्वांशे तैदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः । अज्ञात्त्या सेवाद्यसम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः । चकारपक्षे समुच्चयः । सर्वथेत्यस्यावश्यकत्वज्ञापनाय । अथवा । सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा । एतेन सद्गदोषो निवारितः । अतादृशेष्वेतद्रोपनं सूच्यते । सर्वदेतिपाठे कालापरिच्छेदस्तत्रोच्यते । अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति भावः । कदाचिदलૌકિકાર્થસ્ય લૌકિકસ્ય વા સિદ્ધર્થં પ્રભુઃ પ્રાર્થનીય ઇતિ પ્રશ્ને નેત્યાહુઃ સર્વેશ્વર ઇતિ । અત્ર સર્વેશ્વરો નિવેદિતાત્મસર્વંપરઃ । યથા 'સર્વે બ્રાહ્મણા ભોજયિતવ્યા' ઇત્યત્ર નિમન્ત્રિતા એવ સર્વપદેનોચ્યન્તે, ન ત્વન્યેપિ । સર્વાત્મપદેણેવં જ્ઞેયમ્ ।

જો આ પ્રકારે જીવ પોતાની બધી ચિંતાઓ અને પોતાના લૌકિક અલૌકિક સમસ્ત પ્રયત્ન વગેરેનો ત્યાગ કરીને સર્વથા સમસ્ત દાધીત્વોથી છૂટી લઈલે- તો તેમાં સ્વચ્છંદતા આવી શકે છે. તેમજ તે બહિર્મુખ બની શકે છે, તેથી આ સમસ્થાના નિરાકરણ માટે આચાર્યચરણ બીજા શ્લોકમાં 'નિવેદન' વગેરે શબ્દોથી કહી રહ્યા છે.

સર્વદા, સર્વાંશમાં (સંપૂર્ણ રીતે) જીવ જો હું ભગવાનનો છું (ભગવાન મારી પાસે બંધુ કરાવે છે.) આવું અનુસંધાન રાખે તો તેમાં સ્વચ્છંદતા એમજ બહિર્મુખતાનો દોષ નહીં આવે આ ભાવ છે અને જો જીવ અશક્ત હોય અને તેનાથી ભગવદ્-સંવા નખતિ



न होय, तथापि तेषु प्रभुने करेल निवेदनं स्मरणं तो करवुं न् नोर्धये, आ अताववा माटे श्रीमहाप्रभुञ्जे 'तु' शब्दो प्रयोग क्यो छे. ('तु' शब्दो अर्थ थाय छे - 'तो' प्रभुचरण अर्थात् प्रयुक्त थयेल 'तु' शब्दं तात्पर्य समझवी रह्या छे.

'निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशीर्जनेः' नो अर्थ थाय छे - तादृशीर्जनो साथे निवेदनं स्मरणं तो सर्वथा करवुं नोर्धये. प्रभुचरण आ आज्ञा करी रह्या छे के अर्थात् 'तु' शब्द निवेदनना स्मरणनी आवश्यकता अतावे छे. अने ते आवश्यकता आ छे के परिस्थिति वश भगवद्-सेवा नभती होय के न नभती होय, निवेदनं स्मरणं तो सर्वथा करतां रहवुं नोर्धये, आ अर्थ छे.) अने नो कोर्धक स्थाने पाठ भेदथी 'निवेदनं तु स्मर्तव्यं'ना स्थाने 'निवेदनं च स्मर्तव्यं' पाठ भानी लेवामां आवे तो 'च' शब्दथी आ पंक्तिनो अर्थ - अने निवेदनं स्मरणं सर्वदा करवुं नोर्धये - आ प्रकारे करवुं नोर्धये. सर्वथा शब्द निवेदनना स्मरणनी आवश्यकता अताववा माटे छे. अथवा आन पंक्तिनो बीजे अर्थ आ पण होय शके के - नो लोको निवेदितात्मा होवाना कारणे भगवद्-तत्पर होय छे अने सर्वथा तादृशी छे. तेमनी साथे निवेदनं स्मरणं करवुं नोर्धये. आनाथी दुःसंग दोष दूर थाय छे. अने, नो लोको तादृशी नथी तेमनाथी पोतानो भगवद्-भाव छूपाववो नोर्धये. आ पण सूचित थाय छे. कोर्धक स्थाने 'सर्वथा' पदना स्थाने 'सर्वदा' पद मानवामां आव्युं छे. आवुं मानता आ पंक्तिनो अर्थ अेवी रीते थशे के 'सर्वदा' पदथी आचार्यचरणो अने निवेदनना स्मरणमां कालं अपरिच्छेद कह्युं छे. (परिच्छेदन शब्दो अर्थ थाय छे ढांकवुं. 'काल-अपरिच्छेदन'नो अर्थ थयो - नो काल, समय ढांकी न शके. अर्थात् 'सर्वदा' पदना कालमां निवेदनं स्मरणं करवुं नोर्धये, आ अर्थ छे.) नहीतर भगवद्-स्मरण छूटतानी साथे आसुरावेश थर्ध नशे, आ भाव छे. हवे अर्थात् आ शंका थाय छे, के लौकिक के अलौकिक कार्यो माटे प्रभु पासे प्रार्थना करवी के नही? तो आचार्यचरण आनो उत्तर 'न करवी' आ प्रकारे आपतां सर्वेश्वरः वगैरे शब्दोथी कही रह्या छे. अर्थात् 'सर्वेश्वर' (सर्व+ईश्वर) शब्दमां प्रयुक्त 'सर्व' शब्द आ अतावे छे के - भगवान केवल निवेदितात्माओना सर्वस्व छे बीजे माटे नही. नोवी रीते 'सर्व' ब्राह्मणोने भोजन करावो. आ पाक्यमां 'सर्व' शब्दं तात्पर्य समस्त ब्राह्मणोथी नथी अपितु समस्त निमंत्रित ब्राह्मणोने न भोजन करावो, आ अर्थमां छे; तेवी न रीते अर्थात् सर्वेश्वर शब्दमां सर्व शब्दं तात्पर्य आ नथी के भगवान अधाना सर्वस्व छे. अपितु नोओ अने प्रभुने आत्मनिवेदन करी दीधुं छे, भगवान अेभनां न सर्वस्व छे बीजेना नही. सर्वात्म शब्दमां पण सर्व शब्दो अर्थ आ न प्रकारे नशयो नोर्धये के भगवान अधाना नही अपितु निवेदनं करवावाणाओना न सर्वात्मा छे.

यदि इस प्रकार से जीव अपनी सारी चिंताएँ एवं अपने समस्त प्रयत्न आदि त्याग कर सर्वथा समस्त दायित्वों से अपनी मुक्ति मान ले, तो उसमें स्वच्छंदता आ सकती है एवं वह बहिर्मुख हो सकता है। अतः इस समस्या के निराकरण के लिए 'निवेदनं' इत्यादि शब्दों से दूसरे श्लोक में कहा गया है।

सर्वदा, सर्वांश में (संपूर्ण रूप से) जीव यदि 'मैं भगवान का हूँ' ऐसा अनुसंधान रखे तो उसमें स्वच्छंदता एवं बहिर्मुखता नहीं आएगी, यह भाव है। और, यदि जीव अशक्त हो एवं उससे भगवद्-सेवा न हो पा रही हो, तथापि उसे प्रभु को किए गये निवेदन का स्मरण तो करना ही चाहिए, यह बताने के लिए श्रीमहाप्रभुजी ने 'तु' शब्द का प्रयोग किया है। ('तु' शब्द का अर्थ होता है 'तो'। प्रभुचरण यहाँ प्रयुक्त हुए 'तु' शब्द का तात्पर्य समझा रहे हैं। 'निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशीर्जनेः' का अर्थ होता है - तादृशीर्जनो के साथ निवेदन का स्मरण तो सर्वथा करना ही चाहिए। प्रभुचरण यह आज्ञा कर रहे हैं कि यहाँ 'तु' शब्द निवेदन के स्मरण की आवश्यकता बतला रहा है। और वह आवश्यकता यह है कि परिस्थिति के अनुसार भगवद्-सेवा निभ पांती हो या नहीं, निवेदन का स्मरण तो सर्वथा करते ही रहना चाहिए, यह अर्थ है) यदि कहीं पाठभेद से 'निवेदनं तु स्मर्तव्यं' के स्थान 'निवेदनं च स्मर्तव्यं' पाठ मान लिया जाय तो 'च' शब्द के द्वारा इस पंक्ति का अर्थ - और निवेदन का स्मरण सर्वदा करना चाहिए - इस प्रकार से करना चाहिए। 'सर्वथा' शब्द निवेदन के स्मरण की आवश्यकता बताने के लिए है। अथवा, इसी का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि - जो निवेदितात्मा होने के कारण भगवत्-तत्पर हैं एवं सर्वथा तादृशी हैं, उनके संग निवेदन का स्मरण करना चाहिए। इससे दुःसंगदोष निवारित होता है। और, जो तादृशी नहीं हैं उनसे अपना भगवद्-भाव छुपाना चाहिए, यह भी सूचित होता है। कहीं कहीं 'सर्वथा' पद के स्थान पर 'सर्वदा' पद माना गया है। ऐसे में इस पंक्ति का अर्थ यह बनेगा कि सर्वदा पद से आचार्यचरणोने निवेदन के स्मरण में काल का अपरिच्छेद कहा गया है। (परिच्छेदन शब्द का अर्थ होता है 'ढँकना'। 'काल-अपरिच्छेदन' का अर्थ हुआ-जिसे काल न ढँक सके। अर्थात् सर्वदा, सभी काल में निवेदन का स्मरण करना चाहिए, यह अर्थ है।) अन्यथा स्मरण छूटते ही आसुरावेश हो जायेगा, यह भाव है। अब, यहाँ यह शंका

होती है कि, कदाचित् किसी अलौकिक अथवा लौकिक कार्य के लिए प्रभु से प्रार्थना करनी या नहीं ? तो इसका उत्तर 'नहीं करनी चाहिए' इस प्रकार से देते हुए सर्वेश्वरः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । यहाँ 'सर्वेश्वर' (सर्व+ईश्वर) शब्द में प्रयुक्त 'सर्व' शब्द यह बता रहा है कि-भगवान केवल निवेदितात्माओं के सर्वस्व हैं, अन्य दूसरों के लिए नहीं। जैसे 'सभी ब्राह्मणों को भोजन कराएँ' इस वाक्य में 'सर्व' शब्द से तात्पर्य सभी ब्राह्मणों से नहीं है अपितु सभी निमंत्रित ब्राह्मणों को ही भोजन कराएँ, इस अर्थ में है ; उसी प्रकार यहाँ 'सर्वेश्वर' शब्द में सर्व शब्द से तात्पर्य यह नहीं है कि भगवान सभी के सर्वस्व हैं अपितु जिन्होंने प्रभु को आत्मनिवेदन कर दिया है, वे उन्हीं के सर्वस्व हैं, दूसरों के लिए नहीं । 'सर्वात्म' शब्द में भी 'सर्व' शब्द का अर्थ इसी प्रकार जानना चाहिए कि, भगवान सभी के नहीं अपितु निवेदन करने वालों के ही सर्वात्मा हैं ।

तेन सेवकाः सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गीकृतस्वामित्व आत्मीयत्वमेव तेषु मनुत इति तद्विकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते । अथवा । कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं कालादिपरम् । प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय निजेच्छेत्युक्तम् । अथवा । निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रचुरेच्छातः स्वयमेवापेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः । परन्त्विच्छाया अविकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञापनायाव्ययप्रयोगः ॥ २ ॥

आनाथी आ सिद्ध थाय छे के, सेवक जेम जेम प्रभुने शरणागत थता नथ तेम तेम प्रभु पण तेमनो अंगीकार करे छे अने ते सेवकोमां पोतानुं स्वामित्व अने आत्मीयता माने छे तेथी तेमनुं हित करवामां प्रभु तेमनी प्रार्थनानी अपेक्षा नथी राप्ता, आ नणाय छे. अथवा आवी रीते अर्थ करी लईये के कारणके प्रभु काल वगेरेना पण नियामक छे तेथी न्ने तेमनी ईच्छा एवोनो उद्धार करवानी छे तो काल पण तेमां प्रतिबंध बनी शकतो नथी; आ कारणे 'सर्व' शब्द काल वगेरेनुं सूचन करे छे. अर्थात् प्रभु काल वगेरेना पण ईश्वर छे, आ अर्थ छे. अने, न्ने एव प्रार्थना करे पण, तथापि प्रभुतो अमनुं पोतानुं विचारेनुं न करे तेथी तेमने प्रार्थना करवानो कोई अर्थ नथी, आ अताववा माटे अहिया निवेच्छा शब्द कहेवामां आव्यो छे. अथवा निवेच्छा शब्दनो अर्थ आ पण कोई शक्ये छे के, पोताना स्वीयजन होवाना कारणे अंगीकार करेला निवेच्छकोनी प्रचुर ईच्छाथी प्रभु तेमने जे कंई पण अपेक्षित छे ते अमनी प्रार्थनानी अपेक्षा राप्ता वगर पोते न्ने अणुं करे. परंतु अहिया 'निवेच्छातः' शब्दमां आचार्यवरणोअे अव्यय-प्रयोग आपेलो छे. जेनो अर्थ आ थाय छे के एवो द्वारा करेला अविकृत - ईच्छा न्ने प्रभुने अपेक्षित छे. अहिया 'निवेच्छातः' शब्दना गांभिर उपर ध्यान आपनुं न्नेईये. प्रभुवरणोअे आ शब्दना जे अर्थ कयां छे- 'निवेच्छा ईच्छा इति निवेच्छा' (स्वयं भगवाननी जे ईच्छा छे, ते निवेच्छा छे.) अने 'निवेच्छा ईच्छा इति निवेच्छा' (पोताना निवेच्छकोनी ईच्छा निवेच्छा छे.) आ अन्ने अर्थोमां आपथ्रीअे न्यां बीन्ने अर्थ कयो छे त्यां तेअो निवेच्छातः शब्दमां प्रयोग थयेला अव्यय-प्रयोग (तः) उपर ध्यान दोरवा मांजे छे. आपथ्री आज्ञा करे छे के श्रीमहाप्रभुए अहिया 'निवेच्छातः' न कहीने निवेच्छायाः कहीने पंचमि विभक्तिनो प्रयोग पण करी शकता हता. अने तेनाथी कोई अर्थ परिवर्तन पण थवानो नहोतो परंतु आपथ्रीअे अव्यय - प्रयोग द्वारा 'निवेच्छातः' पद प्रयोग कयो छे. आमां अर्थ आ छे के अव्यय अविकारी होय छे अर्थात् अव्यय गमे ते शब्दनी साथे जोडाई नथ परंतु अव्ययनो अर्थ बदलतो नथी. तेथी न्ने आपथ्री कही रह्या छे के प्रभुथी करवामां आवती ईच्छा पण अविकारी न्ने होवी न्नेईये. तेथी एवे प्रभुने कोई पण विकृत अथवा दृष्ट ईच्छा न करवी न्नेईये अने आ न्ने लावने अताववा माटे आचार्यवरणोअे 'निवेच्छातः' पदनी साथे अव्ययनो प्रयोग कयो छे. //२//

इससे यह सिद्ध होता है कि, सेवक जैसे-जैसे शरणागत होते जाते हैं, वैसे-वैसे प्रभु भी उनका अंगीकार करते हैं एवं उन सेवकों में अपना स्वामित्व और आत्मीयता मानते हैं अतः उनका हित करने में वे उनके द्वारा प्रार्थना करने की अपेक्षा नहीं रखते, यह ज्ञापित होता है । अथवा, यो अर्थ कर लें कि, चूँकि प्रभु काल-आदि के भी नियामक हैं अतः यदि उनकी इच्छा जीव का उद्धार करने की है, तो काल के द्वारा किया गया प्रतिबंध भी नहीं हो सकता; इस कारण से 'सर्व' शब्द काल इत्यादि द्योतक है अर्थात् प्रभु काल-आदि के भी ईश्वर हैं, यह अर्थ है । और, यदि जीव प्रार्थना करे भी, तथापि प्रभु तो स्वयं के द्वारा विचारा हुआ ही करेंगे अतः उनसे प्रार्थना करने का कोई प्रयोजन नहीं है, यह बताने के लिए यहाँ निजेच्छा शब्द कहा गया है । अथवा, निजेच्छा शब्द का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि, अपने स्वीयजन होने के कारण अंगीकार किए गये निज सेवकों की प्रचुर इच्छा से प्रभु उन्हें जो कुछ भी अपेक्षित है, वह सब स्वयं ही करेंगे, उनकी प्रार्थना की अपेक्षा नहीं रखते, यह अर्थ है । परंतु यहाँ 'निजेच्छातः' शब्द में अव्यय-प्रयोग दिया गया है । जिसका

अर्थ यह है कि जीवों द्वारा की गई अविकृत-इच्छा ही प्रभु को अपेक्षित है। (यहाँ 'निजेच्छातः' शब्द के गांभीर्य पर ध्यान दें। प्रमुचरणों ने इस पद के दो अर्थ किए हैं—'निजस्य इच्छा इति निजेच्छा' (स्वयं भगवान की जो इच्छा है, वह निजेच्छा है) एवं 'निजानाम् इच्छा इति निजेच्छा' (अपने निजजनों की इच्छा निजेच्छा है)। इन दोनों अर्थों में आपश्री ने जहाँ दूसरा अर्थ किया है वहाँ वे 'निजेच्छातः' शब्द में प्रयुक्त हुए अव्यय-प्रयोग (तः) पर ध्यान दिलाना चाह रहे हैं। वे कहते हैं कि श्रीमहाप्रभु यहाँ निजेच्छातः न कह निजेच्छायाः करके पंचमीविभक्ति का प्रयोग भी कर सकते थे और इससे कोई अर्थ परिवर्तन भी नहीं होता परंतु उन्होंने अव्यय-प्रयोग के द्वारा 'निजेच्छातः' पद प्रयुक्त किया है। इसमें अर्थ यह है कि 'अव्यय' अविकारी होता है अर्थात् वह चाहे जिस शब्द के साथ जुड़ जाए, उसका अर्थ नहीं बदलेगा। इसी के लिए आपश्री कह रहे हैं कि प्रभु से की जानेवाली इच्छा भी अविकारी ही होनी चाहिए। जीव को प्रभु से कोई विकृत या दुष्ट इच्छा नहीं करनी चाहिए और इसी को बताने के लिए श्रीमहाप्रभुजी ने 'निजेच्छां' पद के संग अव्यय का प्रयोग किया है) ॥२॥

ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते, तत्राहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वत्याङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभुसम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः । इयं निवेदनेऽङ्गीकारमयदित्याहुः स्थितिरिति । कस्यचिद्विशेषतोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टिरिति भावः । अथवा । पुत्रादीनामन्यविनियोगदर्शनेऽपि स्वस्य का चिन्ता, तेषामप्यङ्गीकारेणैव कृतार्थतासम्भवादित्यर्थः । किञ्च । स्वस्येतिपदमावृत्तमपिशब्देन सम्बध्यते ॥ ३ ॥

हवे अहिया आ शंका थाय छे के भगवानने समर्पित थई यूक्या आ देह वगैरेनो विनियोग ने भगवानमां न थईने स्त्री, पुत्र वगैरेमां थतो होय तो स्वधर्म हानि थवानी चिन्ता बाधित करे छे. तेथी आनुं समाधान आचार्यचरण सर्वेषाम् वगैरे शब्दोथी करी रह्या छे.

निवेदननी प्रक्रियामां आ स्मरण राभयुं नेईछे के, निवेदन करतां सभये आपणी पोतानी साथे नेटलाओनुं निवेदन थयुं छे ते अधानी साथे न प्रभुमे आ एवने स्वीकार कर्यो छे तेथी ते अधानो प्रभुथी संबंध स्थापित थयो छे, केवल आपणो न नहीं. तेथी नेनो आपणो उपयोग स्त्री, पुत्र वगैरेमां थतो होय तो आपणने केवी चिन्ता ? कंई पण नहीं, आ अर्थ छे. निवेदन थवापर प्रभु द्वारा अंगीकार करवानी आवी भयादा छे—आ अताववा माटे आचार्यचरणोमे स्थितिः शब्दनो प्रयोग कर्यो छे. अने ने कोई विशेषपथी अंगीकार थयो होय तो ते 'पुष्टि' छे, आ लाव छे. अर्थात् प्रभु ने निवेदन करवावाणएवने न अंगीकार करे अने अनाथी संबंधित तेना सगासंबंधीओनो न करे तो आने भगवाननी विशेषकृपा (पुष्टि) मानवी नेईछे. अथवा आ त्रीण कारिकानो संपूर्ण अर्थ आम करी शक्य छे के पुत्र वगैरे परिवारनोनो प्रभुमां विनियोग न थई ने अन्यत्र कोई स्थाने विनियोग थतो देयातो होय तो पण आपणो चिन्ता शा माटे करवी? कारणके प्रभुमे आपणी साथे तेमनो पण अंगीकार कर्यो छे तेथी तेमनी पण कृतार्थता संभव छे, आ अर्थ छे. अने, आ पण सभने के त्रीण कारिकामां प्रयुक्त 'स्वस्य' पद पुनः 'अपि' शब्दथी संबंधित थई रह्यो छे. (आ पंक्तिमां प्रभुचरणनो आशय समजता पहेलां मूण कारिकानो शब्दार्थ समज्ये. आनो अर्थ आ थाय छे के, अधानो अर्थात् पोतानी साथे निवेदीत थयेला समस्त प्रदार्थोनुं प्रभुमां निवेदन थयेलुं छे, प्रधान रूपथी केवल आपणुं न थयुं होय अयुं नथी. तेथी ने बीजओनो प्रभु सिवाय कोई अन्य स्थाने विनियोग थतो होय तो पण आपणने केवी चिन्ता? कंई पण नहीं, आ अर्थ छे.) हवे प्रभु चरण अहिया 'स्वस्य' पदने तेना पहेलां आवेल 'चिन्ताका' पदथी पण नेडी रह्या छे. अने तेना पश्चात् आवेल 'सोपी' पदथी पण. पहेला ढंगथी नेऽवामां अर्थ अनशे-ने बीजओनो अन्यत्र विनियोग थतो होय तो आपणो शा माटे चिन्ता करवी? अने बीज ढंगथी नेडीछे तो अर्थ अनशे- ने आपणो पोतानो पण भगवान सिवाय अन्यत्र विनियोग थतो होय तो आपणो शा माटे चिन्ता करवी नेईछे, आ अर्थ छे.

अब यहाँ एक शंका यह होती है कि, भगवान को समर्पित हो चुके इस देह-आदि का विनियोग यदि भगवान में न होकर स्त्रीपुत्र-आदि में होता हो तो स्वधर्म की हानि होने की चिन्ता बाधित करती है अतः इसका समाधान सर्वेषाम् इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं।

निवेदन की प्रक्रिया में यह स्मरण रखना चाहिए कि, निवेदन करते समय अपने सहित जितनों का निवेदन किया गया है, उन सभी के संग ही प्रभु ने उस जीव को स्वीकार किया है अतः उन सभी का प्रभु से संबंध स्थापित हुआ है, न कि केवल अपना ही । अतः यदि स्वयं का उपयोग स्त्रीपुत्रादि में हो रहा हो तो स्वयं को क्या चिन्ता ? कोई भी नहीं, यह अर्थ है । निवेदन होने पर प्रभु द्वारा अंगीकार किए जाने की यह मर्यादा है-यह बताने के लिए आचार्यचरणों ने स्थितिः शब्द का प्रयोग किया है । यदि किसी का विशेषरूप से अंगीकार हुआ हो तो वह 'पुष्टि' है, यह भाव है । अर्थात् यदि प्रभु केवल निवेदन करनेवाले जीव का ही अंगीकार करे और उससे संबंधित उसके सगे-संबंधियों का नहीं, तो इसे भगवान की विशेष कृपा (पुष्टि) माननी चाहिए । अथवा, इस तीसरी कारिका का संपूर्ण अर्थ यों कर लें कि, पुत्र-आदि परिवारजनों का प्रभु में विनियोग न होकर अन्यत्र कहीं विनियोग होता दिखाई पड़े, तथापि खुद को क्यों चिन्ता करनी ? क्योंकि प्रभु ने अपने सहित उनको भी अंगीकार किया होने से उनकी कृतार्थता भी संभव है, यह अर्थ है । और, यह भी समझें कि यहाँ तीसरी कारिका में प्रयुक्त 'स्वस्य' पद पुनः 'अपि' शब्द से संबंधित हो रहा है (इस पंक्ति में प्रभुचरणों का आशय समझने से पहले मूलकारिका का शब्दार्थ समझें । इसका अर्थ यह है कि, सभी का अर्थात् स्वयं के सहित निवेदित हुए समस्त पदार्थों का निवेदन हुआ है, प्रधानरूप से केवल स्वयं का ही हुआ हो ऐसा नहीं है अतः यदि दूसरों का कहीं और विनियोग होता भी हो तथापि इसमें स्वयं को कैसी चिन्ता ? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है । अब प्रभुचरण यहाँ 'स्वस्य' पद को उसके पूर्व में आए 'चिन्ता का' पद से भी जोड़ रहे हैं एवं उसके पश्चात् आए 'सोपि' पद से भी । पहले ढंग से जोड़ने में अर्थ बनेगा - दूसरों का अन्यत्र विनियोग यदि होता हो तो स्वयं को क्यों चिन्ता करनी ? और यदि दूसरे ढंग से जोड़ेंगे तो अर्थ बनेगा कि - स्वयं का भी यदि भगवान के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र विनियोग हो रहा हो, तो स्वयं को क्यों चिन्ता करनी चाहिए, यह अर्थ है।)

यथा पुत्रादीनाम्, तथा स्वस्यापि सः अन्यविनियोगश्चेत्, तदापि चिन्ता न कार्येत्याहुः अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिश्चिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्णसात्कृतप्राणैश्चिन्ता न कार्येति किमु वाच्यमित्यर्थः । केवलं प्रभवधीनीकृतप्राणानां चिन्ताविषयाभावादेव न सेति भावः । अत एव केतिशब्द उक्तः । पदसम्बन्धस्तु अज्ञानादथवा ज्ञानाद्यै-स्तत्कृतम्, तेषां सा नेतिशेषः । कृष्णसात्कृतप्राणैर्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा केत्युक्तम् ॥ ४ ॥

जेपी रीते पुत्र वगैरे परिवारजनोनो अन्य विनियोग तथा उपर चिन्ता न करवी तेवी रीते आपणो पोतानो पण भगवानभां विनियोग न थईने अन्यत्र विनियोग थई जतो होय, तो पण चिन्ता न करवी-आ अन्वर्थपरण अज्ञानात् वगैरे शब्दोथी कही रह्या छे.

आ योथा श्लोकमां श्रीमहाप्रभुज आ जतापवा भागे छे के आत्मनिवेदन करी लीधा हीन-मध्यम अधिकारीओने पण ज्या चिन्ता न करवी अथ कहेवाभां आप्युं, त्यां तो जेओ अे कृष्णथी पोताना प्राणोने केवळ प्रभुने जेवळीन करी लेवण्ये जन्वथीयो भाटे चिन्तानो कोई विषय न रही जतो नथी. तेमने चिन्ता थती न थती, आ भाव छे. तेवी न चिन्ता अन्वर्थपरणे 'अ' (शु?) शब्द कह्यो छे. जे संपूर्ण श्लोकना पदोनो संबंध बेसाडवो होय तो अर्थ आवी रीते जनी रहे - जेजेने ज्ञान अस्तित्व अथवा तो अज्ञानथी आत्मनिवेदन करी लीधुं छे तेमणे चिन्ता न करवी जेईअे अने कृष्णथी पोताना प्राणोने जेजेके करी लेवण्ये जन्वथीयोने तो आ आत्मनिवेदन करी लीधा पछी केवी चिन्ता? //४//

जैसे पुत्र-आदि परिवारजनों का अन्यविनियोग होने पर चिन्ता नहीं करनी, वैसे ही यदि स्वयं का भी भगवान में विनियोग न होकर कभी अन्यत्र विनियोग हो जाता हो, तब भी चिन्ता नहीं करनी - यह आचार्यचरण अज्ञानात् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं ।

इस चौथे श्लोक में श्रीमहाप्रभुजी यह बताना चाह रहे हैं कि, आत्मनिवेदन कर चुके हीन-मध्यम अधिकारियों को भी नहीं चिन्ता नहीं करनी' यह कहा गया है, वहाँ जिन्होंने कृष्ण से अपने प्राण एकमेक कर लिए हैं, उन्हें चिन्ता नहीं करनी, इसमें क्या कहना है ? यह अर्थ है । केवल प्रभु के अधीन अपने प्राणों को कर देने वाले भगवदीयों के लिए चिन्ता का कोई विषय ही नहीं होता, अतः उन्हें चिन्ता होती ही नहीं, यह भाव है । इसी कारण यहाँ 'का' (क्या?) शब्द कहा गया है । यदि पूरे श्लोक के पदों का संबंध बैधना हो तो अर्थ इस प्रकार से बनेगा कि - जिन्होंने ज्ञानसहित अथवा अज्ञान से भी आत्मनिवेदन कर लिया है, उन्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिए । और, कृष्ण से अपने प्राणों को एकमेक कर लेने वाले भगवदीयों को आत्मनिवेदन कर लेने के पश्चात् कैसी चिन्ता ? यह कह

है । ॥४॥

ननु सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्येते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने कृतेपि प्रभुरङ्गीकृतवान्नेति चिन्ता भवत्येव, इत्यत आहुः तथेति ।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।

विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तमोङ्गीकृतवान्नेति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या उक्तनिवेदनबदित्यर्थः । पुरुषोत्तमेन निरोधलीलायां स्वतोन्वयभजनं क्रियमाणा भक्तास्तन्निवार्य स्वयमात्मसात्कृता इति तादृशे स्वयं सर्वात्मना निवेदने कृते सा शङ्का नोचितेति ज्ञापनाय पुरुषोत्तमपदम् ।

अहिया अेक शंका आ थाय छे के 'सख्य' अने 'आत्मनिवेदन' तो निश्चित ३पथी भगवद्-अंगीकार द्वारा ७ संपन्न थाय छे अने अहिया तो ७व पुद् पोते ७ आत्मनिवेदन करी रह्यो छे, तो तेने 'प्रभुअे भारो अंगीकार क्यो के नहीं' आ प्रकारनी चिंता तो थाय ७ छे, तेथी आनुं समाधान आचार्यअरए तथा वंगेरे शब्दोथी करी रह्या छे.

"पुरुषोत्तमे भारो अंगीकार क्यो के नहीं?" आ प्रकारनी निवेदन विशेषी चिंता पए ते ७ प्रकारे छोडी देवी नेछअे ७े प्रकारे पूर्वमां कहेल निवेदननी चिंता त्यागवी कही हती, आ अर्थ छे. (आ वाक्यथी प्रभुअरएओनो आशय आ छे के "पुरुषोत्तमे भारो अंगीकार क्यो के नहीं?" आ प्रकारनी चिंता पए ते ७ प्रकारे छोडी देवी नेछअे ७े प्रकारे 'अज्ञानथी', 'ज्ञानथी' अने 'कृष्ण' साथे पोताना प्राणोने आत्मसात् करी लेवावाणा अेवा त्रए प्रकारना निवेदन करवावाणाओने चिंता त्यागवी कही हती. त्यां पए, आवा त्रए प्रकारना निवेदकोमां पए प्रभुअरएओअे 'पोतानो अन्य विनियोग थवानी पए चिंता' अने 'पोताना स्त्री, पुत्र वंगेरेनो अन्य विनियोग थवानी चिंता' आ प्रकारे ७े पक्ष राख्या हता. आपथी अहिया आ ७ कही रह्या छे के आ त्रए प्रकारना निवेदकोने ७े प्रकारे आ अने पक्षोमां अतावेल चिंताने त्यागी देवानो उपदेश आप्यो हतो तेवी रीते अहिया पए "पुरुषोत्तमे भारो अंगीकार क्यो के नहीं?" आ चिंता पए त्यागी देवी नेछअे, आ अर्थ छे.) नएली लो के पोते पुरुषोत्तमे निरोधलीलायां अन्य देवी देवताओनुं लजन करवावाणा लक्तोनो अन्याश्रय छोडावी पोतानामां चित्त थोटाडी तेमने आत्मसात् कया हता तेथी अहिया तो आवा कृपाणु पुरुषोत्तमने ७े आपए पोते ७ अथा प्रकारे निवेदन करी हछअे तो "पुरुषोत्तमे भारो अंगीकार क्यो के नहीं?" आ शंकाने शुं स्थान रही नथ? आ ७ लावने अताववा माटे श्रीमहाप्रभुअे अहिया 'पुरुषोत्तम' पदनो प्रयोग क्यो छे. (श्री+पुरुषोत्तम=श्रीपुरुषोत्तम. अहिया श्रीथी युक्त पुरुषोत्तम पदनं तात्पर्य छे-पोताना लक्तो साथे करेली डीडाथी युक्त पुरुषोत्तम. आगणनी पंक्तिमां श्रीगुंसाछं श्रीथी युक्त पुरुषोत्तम पदनो लाव समनवी रह्या छे.)

यहाँ एक शंका यह होती है कि 'सख्य' एवं 'आत्मनिवेदन' तो निश्चितरूप से भगवद्-अंगीकार के द्वारा ही संपादित होते हैं और यहाँ तो जीव खुद अपने आप ही आत्मनिवेदन कर ले रहा है, तो उसे 'प्रभु ने मुझे अंगीकार किया या नहीं ?' इस प्रकार की चिन्ता तो होती ही है अतः इसका समाधान तथा इत्यादि शब्दों से कहा जा रहा है ।

"पुरुषोत्तम ने मेरा अंगीकार किया या नहीं?" इस प्रकार की निवेदन विषयिणी चिन्ता भी उसी प्रकार से त्याग देनी चाहिए, जिस प्रकार से पूर्व में कहे निवेदन में चिन्ता त्यागनी कही थी, यह अर्थ है । (इस वाक्य के द्वारा प्रभुचरणों का आशय यह है कि 'पुरुषोत्तम ने अंगीकार किया या नहीं ?' इस प्रकार की चिन्ता भी उसी प्रकार से त्याग देनी चाहिए जिस प्रकार 'अज्ञान से', 'ज्ञान से' एवं 'कृष्ण के साथ अपने प्राणों को आत्मसात कर लेने वाले' ऐसे तीनों प्रकार से निवेदन करने वालों को चिन्ता त्यागनी कही थी । वहाँ भी, ऐसे तीनों प्रकार के निवेदकों में भी प्रभुचरणों ने "स्वयं का अन्य विनियोग होने की चिन्ता" एवं "स्वयं के स्त्रीपुत्र-आदि का अन्य विनियोग होने की चिन्ता" इस प्रकार से दो पक्ष रखे थे । वे यहाँ यही कह रहे हैं कि उक्त तीनों प्रकार के निवेदकों को जिस प्रकार से इन दोनों पक्षों में कही चिन्ता को त्याग देने का उपदेश किया था, उसी प्रकार यहाँ भी 'पुरुषोत्तम ने हमें अंगीकार किया या नहीं ?' यह चिन्ता भी त्याग देनी चाहिए, यह अर्थ है) जान लीजिए कि, स्वयं पुरुषोत्तम ने निरोधलीला में अन्य देवी-देवताओं का भजन कर रहे भक्तों को उनका अन्याश्रय छुड़वा कर स्वयं अपने आप में चित्त लगा कर उन्हें आत्मसात किया था अतः यहाँ तो ऐसे पुरुषोत्तम में स्वयं ही सभी प्रकार से निवेदन कर देने पर 'पुरुषोत्तम ने मेरा अंगीकार किया या नहीं ?' इस शंका का क्या औचित्य रह जाता है ? इसी भाव को बताने के लिए श्रीमहाप्रभुजी ने यहाँ 'पुरुषोत्तम' पद प्रयुक्त किया है (श्री + पुरुषोत्तम = श्रीपुरुषोत्तम । यहाँ श्री से युक्त पुरुषोत्तम

पद का तात्पर्य है अपने-भक्तों के संग की गई क्रीड़ा से युक्त पुरुषोत्तम । आगे की पंक्ति में श्रीगुसांईजी श्री से युक्त पुरुषोत्तम पद का भाव समझा रहे हैं ।)

तत्रापि स्वरूपानन्ददानेनानिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्रोपयोगासम्भवेनैव न शङ्कोदय इति ज्ञापनाय श्रीपदम् । तथा च तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्येति भावः । कदाचिल्लोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशादन्यविनियोगेपि तथेत्याहुः विनियोगेपीति । प्रमादात्तयासम्भवेपि प्रभुर्न त्यक्ष्यति । यतस्तत्स्वभाववशात्तथाभूतमप्युद्धर्तुं तत्साधनानपेक्षः ॥ ५ ॥

आ नाली लो के प्रभुना स्वप्रपानन्दना दानथी निरंतर पोषित थनारा भक्तोनुं भगवान सिवाय अन्यत्र क्यांय पण उपयोग थवो असंभव छे. तेथी आवी शंका न करवी न्नेछे. आ भाव भताववा भाटे 'श्री' पदनो उपयोग क्यो छे. आ प्रकारे 'श्री' थी युक्त आवा पुरुषोत्तमं निवेदन करी लीधा पछी आवी चिंता त्यागी देवी न्नेछे, आ भाव छे. हवे कारणके एव स्वभावथी दुष्ट छे तेथी न्ने कोठ लोक भयना कारणे अने कोठक आपातकालीन परिस्थितिने दूर करवा भाटे न्ने एवनो भगवान सिवाय क्यांय अन्यत्र विनियोग थर्छ नथ तो पण तेणे पूर्वमां कहेला तणे निवेदकोनी न्नेम चिंता न करवी न्नेछे, आ भाव छे. न्ने नाले अनाले पण आवुं बनी नथ, तो पण प्रभु तेनो त्याग नथी करतां कारणके प्रभुनो स्वभाव न कृपा करवानो छे. तेथी आवा एवनो उद्धार करवाभां तेओ एवनो कोठपण साधनोनी अपेक्षा राभता नथी. //५//

यह जानिए कि अपने स्वरूपानंद के दान से निरंतर पोषित होते हुए भक्तों का भगवान से भिन्न अन्यत्र कहीं उपयोग होना असंभव ही है अतः ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, यह भाव बताने के लिए आचार्यचरणों ने 'श्री' पद प्रयुक्त किया है । इस प्रकार 'श्री' से युक्त ऐसे पुरुषोत्तम में निवेदन कर लेने के पश्चात् ऐसी चिन्ता त्याग देनी चाहिए, यह भाव है । अब कदाचित् किसी लोकभय के कारण और उस आपातकालीन परिस्थिति को दूर करने के लिए, जीव चूँकि स्वभावतः दुष्ट है; अतः यदि उसका भगवान से भिन्न अन्य कहीं विनियोग हो जाय, तब भी उसे पूर्व में कहे उन तीन निवेदकों की भाँति चिन्ता नहीं करनी चाहिए, यह भाव है । यदि प्रमाद से भी (असावधानीवश) ऐसा हो जाय, तब भी प्रभु उसका त्याग नहीं करते हैं । क्योंकि प्रभु का स्वभाव ही कृपा करने का है, अतः ऐसे जीव का उद्धार करने में भी वे उसके किसी साधनों की अपेक्षा नहीं रखते हैं ॥५॥

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमप्याहुः लोक इति ।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

कदाचित् प्रवाहवशाद्लौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मादौ वा स्थितौ तत्र विग्र एव भवति, न तु तत्फलमित्यर्थः । तत्र हेतुः पुष्टीति । तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वकर्ता यत् इति भावः । पुष्टिमार्गाङ्गीकारे मर्यादां न सहत इति ज्ञेयम् । एवं सति किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः, साक्षिवत् तत्कृतं परयत् ॥ ६ ॥

हवे भगवान द्वारा अंगीकार कर्धानुं बीजुं लक्षण आचार्यचरण लोके वगेरे शब्दोथी कही रह्यां छे.

न्ने कदाय एव प्रवाहवश थर्छने लौकिक-व्यापार वगेरेमां न लागी नथ अने वैदिक आश्रम धर्म वगेरेमां तेनी निष्ठा थर्छ नथ तो त्यां तेने विघ्नन प्राप्त थशे तेने इल प्राप्त नहीं थाय, आ अर्थ छे. आवुं शा भाटे? आनो उत्तर आचार्यचरणोअे पुष्टि वगेरे शब्दोमां आप्यो छे. 'पुष्टिमार्गस्थितः' कहेवानुं तात्पर्य आ छे के पुष्टिप्रभु अलौकिक-वैदिक प्रयत्नो वगर स्वबलथी न बधुं करी शके छे, आ भाव छे. पुष्टिमार्गीय पद्धतिथी अंगीकार करवाभां प्रभु कोठपण लोक अने वेदनी मर्यादा सहन नथी करतां, आ नाली लेवुं न्नेछे. आवी चारेबाजु विघ्ननी परिस्थितिमां एवे शुं करवुं? आ शंका थवा उपर आचार्यचरण कही रह्या छे के "भगवाननी आ समस्त कृतिओने अेक साक्षीनी न्नेम नेता रछे." //६//

अब भगवान के अंगीकार करने का दूसरा लक्षण लोके इत्यादि शब्दों से कहा जा रहा है ।

कदाचित् जीव यदि प्रवाहवश होकर लौकिक व्यापार आदि में ही लग जाए एवं वैदिक आश्रमधर्म-आदि में उसकी निष्ठा हो जाय तो उसे विघ्न ही प्राप्त होगा, उनका फल प्राप्त नहीं होगा, यह अर्थ है । ऐसा क्यों होगा ? इसका उत्तर आचार्यचरणों ने पुष्टि इत्यादि शब्दों से दिया है । 'पुष्टिमार्गस्थितः' कहने का अर्थ यह है कि, पुष्टिप्रभु इन लौकिक-वैदिक प्रयत्नों के बिना स्वबल से ही सभी कुछ कर सकते हैं, यह भाव है । पुष्टिमार्गीय-पद्धति से अंगीकार करने पर वे किसी भी लोक या वेद की मर्यादा को सहन नहीं करते, यह जान

लेना चाहिए । ऐसी परिस्थिति में क्या करना ? यह आशंका होने पर आचार्यचरण कह रहे हैं कि "भगवान की इन समस्त कृतियों को एक साक्षी की भाँति देखते रहो" ॥६॥

**सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।**

**अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्वीयतां सुखम् ॥ ७ ॥**

सेवाकृतिरिति । गुर्वाज्ञाया अबाधनं यथा भवति, तथा सेवाकृतिः पूर्वमपेक्षिता । एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत्, गुर्वाज्ञा विरुद्धा भवेत्, तदा तथा कार्यमित्याशयेनाहुः बाधनं वा हरीच्छया । विकल्पेनाबाधनमित्यर्थः । एवं सति गुर्वाज्ञाया अबाधने बाधने वा सेवैव मुख्या यतोऽतस्तपैव स्थेयमित्याहुः अत इति । एवं सति पर्यवसितं सुखमेवेत्याशयेन सुखमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

हवे सेवाकृतिः वगैरे शब्दोनी व्याख्या करी रह्या छे. सर्वप्रथम तो गुरु -आज्ञा जे प्रकारे बाधित न थती होय, ते प्रकारे सेवा करवी आवश्यक छे. आ प्रकारे गुरु आज्ञाथी सेवा करवावाणाओने जे कदाय कोर्द विशेष भगवद् - आज्ञा थर्द नय अने ते भगवद्-आज्ञा गुरु-आज्ञाथी विरुद्ध नती होय, तो आवी परिस्थितिमां भगवद्-आज्ञा मुज्ज करवुं नोर्दये-आ आचार्यचरण बाधनं वा हरिच्छया शब्दोथी कही रह्या छे. अर्थात् आवी विशेष भगवद् छच्छानो विकल्प उपलब्ध होय, त्तारेज भगवद्-आज्ञा मुज्ज कार्य करवुं नोर्दये, जे न होय तो गुरुनी आज्ञानुं बाधन न करतां भगवद्-सेवा करवी नोर्दये. गुरु-आज्ञा अबाधित थती होय के बाधित थती होय, मुख्य तो भगवद्-सेवा छे तेथी जे प्रकारे भगवद्-सेवानी प्रधानता आवती होय तेवी न रीते रहवुं नोर्दये-आ न भावने आचार्यचरणोमे अतः वगैरे शब्दोथी कहुं छे. आवी रीते करशो तो परिणाम सुभकारी न थशे, आ न कारणे आपथी ये सुभम् पदनो प्रयोग क्यो छे. //७//

अब सेवाकृतिः इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । सर्वप्रथम तो गुरु-आज्ञा जिस प्रकार अबाधित होती हो, उस प्रकार से सेवा करनी आवश्यक है । इस प्रकार गुरु-आज्ञा से सेवा करने वालों को यदि कदाचित् कोई विशेष भगवद्-आज्ञा हो जाए और वह गुरु-आज्ञा से विरुद्ध हो, तब ऐसी परिस्थिति में भगवद्-आज्ञा के अनुसार कार्य करना चाहिए-यह आचार्यचरण बाधनं वा हरीच्छया शब्दों से कह रहे हैं । अर्थात् ऐसी विशेष भगवद्-इच्छा का विकल्प उपलब्ध हो, तब ही भगवद्-आज्ञा के अनुसार कार्य करना चाहिए, अन्यथा तो गुरु की आज्ञा का बाधन न करते हुए भगवत्सेवा करनी है । गुरु-आज्ञा अबाधित होती हो या बाधित होती हो, मुख्य तो भगवद् सेवा ही है अतः जिस तरह भगवद्सेवा की ही प्रधानता आती हो, वैसे ही रहना चाहिए, इसी भाव को आचार्यचरणों ने अतः इत्यादि वाक्यों द्वारा कहा है । ऐसा करने से परिणाम सुखकारी ही होगा, इस कारण उन्होंने सुखम् पद का प्रयोग किया है ॥७॥

कदाचित् पुत्रादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे गतिमाहुः चित्तोद्वेगमिति ।

**चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।**

**तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां हृतं त्यजेत् ॥ ८ ॥**

नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति । तथाहि । भ्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चात्निवेदनवार्ता । तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनदिगपि । अतस्तत्कृतचिन्तान्यवियोगचिन्तादिसमाहितिर्निरर्थेति विचार्य साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहुः तस्मादिति ।

**तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।**

**वदद्भिरैवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥**

यस्मादुत्करीत्या स्वतः सर्वमशक्यमतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदयम् । भक्तिमार्गीयान् सर्वानंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं स्वाशक्तिं च स चेत् पश्यति, तदा सर्वात्मना तथा भवति । नित्यमिति नैरन्तर्यमुच्यते । अन्यथा कालेनासुरधर्मप्रवेशः स्यात् ।

हवे, कदाय पुत्र वगैरे कोर्द परिवारनथी वियोग थर्द नवानी आशंका होय अने तेथी मनमां कोर्द प्रकारना दुःखथी थिंता उत्पन्न थती होय तो तेनुं निराकरण आचार्यचरण थित्तोद्वेगम् वेगरे शब्दोथी करी रह्या छे.

उपर अतावेल कोर्दपण विषयमां थिंता न करवानो उपदेश अने प्रभुनी समस्त लीलाओने धैर्यपूर्वक साक्षीवत् नोता

१. बाधनमिति पाठः । २. भगवद्भक्तद्वारा भगवच्छरणगमनं तदनुसन्धानं च साधनम् । फलं भगवद्भक्तीकारः । ततो भगवद्भक्तद्वारा भगवच्छरणगती भगवता निवेदनस्याङ्गीकाराद्भक्तिषु क्रमनियमाभावात्निवेदनसिद्धेस्तत्र चिन्तासाधनानामयुक्तत्वादिति भावः ।

रहेवाना आ बधा उपदेश आपणने असंभव जेवा लागता होय छे. तेनुं कारण आ के, श्रवणथी लईने सभ्य भक्ति सुधी पहोच्या पछी न निवेदननी वात आवे छे. हवे न्यां नवधा भक्तिनी प्रत्येक भक्ति न प्राप्त थवी कठिन होय छे त्यां तो निवेदननी दिशा पण धरि छे. तेथी आ बधी निवेदननी चिंता अने पुत्र वगेरे अन्य परिवारजनोना वियोगनी चिंता वगेरेनुं समाधान आपवुं व्यर्थ न छे. आवो विचार करीने आचार्यवरण हवे साधन अने फलने अेक करीने बधी वस्तुओनुं समाधान तस्माद् वगेरे शब्दोथी कही रह्या छे. (अर्हिया साधन अने फलने अेक करवानी वात कहेवांमां आवी छे. साधनथी तात्पर्य श्रवणथी लईने सभ्य सुधीनी भक्ति छे अने निवेदन ते भक्तिनुं फल. आगणना श्लोकमां आ बधाने अेक करीने सर्वसमाधान कही दीधुं छे, आ अर्थ छे.)

कारणके उपर बतावेल पद्धतिथी आपणा भाटे आ बधुं करवुं अशक्य छे, तेथी बधा प्रकारथी शरणागत थवापर आपणने प्रभु न अेवुं सामर्थ्य आपणे, आ वात हृदयउद करवी नोईअे. भक्तिमार्गीय बधा न अंशोनो विचार करीने एव न्यारे न्ये छे के एव साध्य तो कशुं न नथी अने न्यारे ते आ प्रकारे प्रतिबंध अथवा तो पोतानुं असामर्थ्य न्ये छे, त्यारे न ते बधा प्रकारे भगवानने शरणागत थाय छे. नित्यम् शब्दो अर्थ छे 'निरंतर'. 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मंत्रनुं निरंतर अनुसंधान करवुं नोईअे, आ कहुं छे. नहीतर कलिकालथी आसुरधर्मनो प्रवेश थई न्ये छे.

अब, कदाचित् पुत्र-आदि किसी परिवारजन से वियोग हो जाने की आशंका हो एवं उससे मन में किसी प्रकार के दुःख से चिन्ता उत्पन्न हो तो इसका निराकरण आचार्यचरण चित्तोद्वेगम् इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं ।

किंतु इस प्रकार से किसी भी विषय में चिन्ता न करने का उपदेश एवं प्रभु की समस्त लीलाओं को धैर्यपूर्वक साक्षिवत् देखते रहने के ये समस्त उपदेश असंभव जैसे प्रतीत होते हैं । वह इस कारण कि, श्रवण से लेकर सख्यभक्ति तक पहुँचने के पश्चात् ही 'निवेदन' की बात आती है । इनमें जहाँ प्रत्येक भक्ति ही दुराप (अर्थात् प्राप्त होनी कठिन है) है, वहाँ तो निवेदन की दिशा भी दूरतर ही है । अतः किए गये निवेदन की चिंता एवं पुत्रादि या अन्य परिवारजनों के वियोग की चिन्ता आदि का समाधान व्यर्थ ही है । ऐसा विचार कर आचार्यचरण अब साधन एवं फल को एक करके इन सभी का समाधान तस्माद् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । (यहाँ साधन एवं फल के एकीकरण की बात कही गई है । यहाँ साधन से तात्पर्य श्रवण से लेकर सख्य पर्यन्त की भक्ति है एवं निवेदन उसका फल । अग्रिम श्लोक में इन सभी को एक करके सर्वसमाधान कह दिया गया है, यह अर्थ है)

चूँकि उपर कही गई रीति से हमारे लिए ये सभी करना अशक्य है, अतः सभी प्रकार से शरणागत होने पर प्रभु ही वैसी सामर्थ्य संपादित करेंगे, यह हृदयंगम करना चाहिए । जब जीव समस्त भक्तिमार्गीय अंशों का विचार करके वहाँ जब देखता है कि, जीवसाध्य तो कुछ भी नहीं है और जब वह इस प्रकार प्रतिबंध या खुद का असामर्थ्य देखता है, तभी वह सभी प्रकार से शरणागत होता है । नित्यम् शब्द का अर्थ है - 'निरंतर' । 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मंत्र का निरंतर अनुसंधान करना चाहिए, यह कहा गया है । अन्यथा कलिकाल से आसुरधर्म का प्रवेश हो जाता है ।

अन्तःकरणे तथाभावेऽतथाभावे वा तथा बदनमावश्यकमिति ज्ञापयितुं सततमेवं वदद्भिरित्युक्तम् । एवं सति लोकशिष्याप्यानुषङ्गिकी सिध्यति । एवमुक्तप्रकारेण सेवापरतया स्येयमित्यर्थो वा । नन्विदमपि न स्वशक्यमित्याशङ्क्य 'यमेवैष नृणुत' इति श्रुतेर्मे मतिरित्येव, एवंप्रकारिकैवेत्यर्थः ।

आपणा अंतःकरणमां बधी न रीते शरणागतिनो भाव होय के न होय, 'निरंतर' 'श्रीकृष्णः शरणं मम' ओलवुं आवश्यक छे, आ बताववा भाटे आचार्यवरणोअे 'सततमेवं वदद्भिः' कहुं छे. न्यारे आपणे आ प्रभाणे सतत अष्टाक्षरनो न्ये करीशुं, तो आपणुं आवुं आचरण आपणे न लोकमां बीजओने पण आवी शिक्षा आपणे. अथवा आवो अर्थ करी लईअे के उपर कहेल प्रकारथी 'श्रीकृष्णः शरणं मम' नुं अनुसंधान राभतां सेवापर रहेवुं नोईअे. अने नो आटलुं करवुं पण आपणां भाटे अशक्य थतुं होय तो आचार्यवरण अेमनां सिद्धांतनो निष्कर्ष 'जेने आ परमात्मा स्वीकार करी ले छे ते न एवने परमात्मा प्राप्त थाय छे.' (मु./२/३) आ श्रुतिना अनुसारे कही रह्या छे. भारी भति तो आन प्रकारनी छे, आ अर्थ छे.

अंतःकरण में सभी प्रकार से शरणागति का भाव हो या न हो, निरंतर "श्रीकृष्णः शरणं मम" बोलना आवश्यक है, यह बताने के लिए आचार्यचरणों ने सततमेवं वदद्भिः कहा है । जब हम इस प्रकार से सतत अष्टाक्षर का जाप करेंगे, तो हमारा ऐसा आचरण अपने आप ही लोक में अन्य दूसरों को भी ऐसी शिक्षा देगा । अथवा, यों अर्थ कर लें कि ऐसे कहे गये प्रकार से 'श्रीकृष्णः शरणं मम' का अनुसंधान करते हुए सेवापर कहना चाहिए, यह अर्थ है । और, यदि इतना करना भी हमारे लिए अशक्य हो तो आचार्यचरण स्वयं के



श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितप्रकाशटिप्पणम्

सिद्धांत का निष्कर्ष 'जिसको यह परमात्मा स्वीकार कर लेता है, उसी जीव को प्राप्त होता है। (मु. २/३)' इस श्रुति के अनुसार कह रहे हैं कि 'मेरी मति तो इस प्रकार की ही है', यह अर्थ है ।

भक्तिमार्गं प्रवृत्तस्य दाढ्यार्षमिदमुच्यते ।  
अन्धस्य सूर्य इव तद्विमुखस्यात्र नार्थिता ॥ १ ॥  
भक्तिमार्गसुधासिन्धोर्विचारमयनैः स्वयम् ।  
स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः ॥ २ ॥  
मयोज्ज्वलीकृतानीत्यं हृदि धृत्वा ब्रजाधिपम् ।  
भजन्तु भक्ता येनासौ न विमुञ्चति कर्हिचित् ॥ ३ ॥  
इति श्रीश्रीविठ्ठलदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः ।

भक्तिमार्गमां प्रवृत्त थयेल लुवनी दृढता माटे आ नवरत्ननो उपदेश अपाय रह्यो छे. आ मार्गधी विभुष लुधो माटे आ तेवी न रीते निरर्थक छे, नेवी रीते आंधणा माटे सूर्य. //१//

पंडितवर्य श्रीमदाचार्यचरणोअे भक्तिमार्ग-सुधासागर (श्रीमद् भागवत)ना विचारोना मंथन द्वारा पोते न आ रत्नोने प्रकट कर्था छे. //२//

भे प्रजाधिपने हृदयमां धारण करीने आ रत्नोने उज्ज्वल कर्था छे, भक्तजन आ रत्नोनुं लजन करे, नेनाथी प्रभु तेभने क्षारेथ छोडशे नही //३//

आ श्री श्री विठ्ठलदीक्षित विरचित नवरत्न प्रकाश संपूर्ण थयुं.

भक्तिमार्ग में प्रवृत्त हुए जीव की दृढता के लिए यह (नवरत्न) कहा जा रहा है। इस मार्ग से विमुख के लिए यह वैसे ही निरर्थक है, जैसे अंधे के लिए सूर्य ॥१॥

पंडितवर्यश्रीमदाचार्यचरणों ने भक्तिमार्ग-सुधासागर (श्रीमद्-भागवत) के विचारों के मंथन द्वारा स्वयं ही इन रत्नों को प्रकट किया है। ॥ २ ॥

मैने ब्रजाधिप को हृदय में धारण करके इन्हें उज्ज्वल किया है, भक्तजन इनका भजन करें, जिससे प्रभु उन्हें कभी भी नहीं छोड़ेंगे ॥३॥

यह श्रीश्री विठ्ठलदीक्षित विरचित 'नवरत्न प्रकाश' समाप्त हुआ ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

# नवरत्नम् ।

श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।

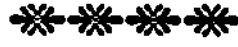


चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पदाम्बुजरेणवः ।  
स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

श्रीकृष्णाय नमः ।

# नवरत्नम् ।

श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।



नत्वा श्रीबह्मभाचार्यान् प्रभून् श्रीविठ्ठलेश्वरान् ।  
नवरत्नप्रकाशो यास्तद्वाचस्ता उपास्महे ॥ १ ॥

अथ श्रीमदाचार्यचरणाः सिद्धान्तरहस्य आत्मनिवेदिनामुत्तरपूर्वांशेषविनाशोपायस्य भगवतोक्तत्वेपि तत्रोक्तस्य प्रकारस्य भोगसाधकतया अलौकिकभोगानुगुणत्वमेव, न तु सेवाप्रतिबन्धकनिवर्तकत्वमपीति तदभावे सेवाया आधिदैविकीत्वाभावं तस्मिन् सति तत्प्रवणचेतोरूपमानसीसेवाया असंभवं चालोच्य, कालप्रारब्धस्वभावैरभीष्टं जन्यमानानामुद्वेगादीनां निवृत्त्यर्थं सेवाफलग्रन्थविवरणे च 'सविघ्नत्वादल्पत्वाद्भोगस्त्याज्य' इति लौकिकभोगनिवृत्तौ तत्स्वरूपविचारस्यैव तन्निवृत्त्युपायत्वेनोक्तत्वात् साधारणप्रतिबन्धनिवृत्तौ च तत्र 'आद्यो बुद्ध्या त्याज्य' इत्यनेन बुद्धिमात्रस्यैवोपायत्वेन कथनादुद्वेगनिवृत्तौ च कस्यापि साधनस्याकथनात्, किञ्चित् साधनं बुद्धिविशेषरूपं वक्तव्यम्,

श्रीवल्लभाचार्य एवं प्रभु श्रीविठ्ठलेश्वर को नमन कर 'नवरत्नप्रकाश' में उनके वचनों की उपासना कर रहा हूँ ॥१॥

'सिद्धान्तरहस्य' ग्रंथ में आत्मनिवेदियों के अगले-पिछले समस्त पापों के विनाश का उपाय यद्यपि भगवान ने कहा ही है परंतु वहाँ कहे गये वे सभी उपाय भगवद्-मुक्त पदार्थों को प्रसादरूप से ग्रहण करने के अर्थ में कहे गये हैं, जो भगवान के उपयोग में आने के पश्चात् अलौकिक ही बन जाता है परंतु वहाँ सि. रहस्यग्रंथ में सेवा में होने वाले प्रतिबंधकों की निवृत्ति नहीं कही गई है । और, जब तक सेवा में होने वाले प्रतिबंधकों की निवृत्ति न हो, तब तक सेवा आधिदैविकी नहीं हो सकती अतः भगवान में चित्त को प्रवण करने के द्वारा सिद्ध होने वाली मानसी-सेवा की भी संभावना नहीं है । उपर्युक्त विषयों की आलोचना (आंकलन करके) करके श्रीमदाचार्यचरण 'नवरत्नग्रंथ' का अवतरण कर रहे हैं । और, 'सेवाफलग्रंथ' में काल-प्रारब्ध-स्वभाव के द्वारा निरंतर उत्पन्न होने वाले उद्वेग-आदि की निवृत्ति के लिए "लौकिकभोग चूँकि विघ्नसहित एवं अल्प सामयिक है, अतः त्याज्य है" (सेवा. वि.) इस वाक्य के द्वारा लौकिक भोगों की निवृत्ति करने के लिए इनके स्वरूप का विचार हो जाने के द्वारा ही इनकी निवृत्ति का उपाय कहा गया है । (अर्थात् लौकिकभोग बाहरीरूप से भले ही सुखकारी प्रतीत होते हों परंतु उनमें बड़े विघ्न होते हैं एवं वे अल्प समय के लिए ही होते हैं-इस प्रकार से इनका वास्तविक स्वरूप समझ लें और इनका मोह त्याग दें, यह उपाय कहा गया है) और, सेवा में होने वाले साधारण प्रतिबंध की निवृत्ति करने के लिए वहाँ

‘बुद्धिपूर्वक भोग का त्याग करना चाहिए (सेवा. वि.)’ कथन के द्वारा मात्र ‘बुद्धि’ को उपाय बताया गया है (अर्थात् उचित-अनुचित, योग्य-अयोग्य इत्यादि का बुद्धिपूर्वक विचार करके लौकिकता दूर करें, यह अर्थ है)। अतः उद्वेग-आदि की निवृत्ति के लिए कोई भी साधन नहीं कहा गया है। अतः उद्वेग-आदि की निवृत्ति के लिए भी किसी बुद्धिविशेष साधन को कहना/बताना आवश्यक हो जाता है।

यद्यपि अतत्त्वनिर्धारिविवेकयोः प्रतिबन्धसाधकत्वकथनेन तत्प्रतियोगिनोस्तत्त्वनिर्धारिविवेकयोः सर्वप्रतिबन्धनिवृत्तिसाधनत्वं सूचितम्, तथापि तत्त्वनिर्धारस्वरूपस्य सङ्क्षेपतः कुत्राप्यनुक्तत्वाद्विवेकधैर्याश्रये विवेकस्वरूपस्योक्तत्वेऽपि आश्रयशेषत्वेनोक्ततया सेवाशेषत्वेनानुक्तत्वात् सेवाया आधिदैविकीत्वसम्पत्त्यर्थं प्रतिबन्धकत्रयनाशहेतुं सङ्क्षेपेण बदिष्यन्तो, हेतुनाशो कार्यानाशात् तद्धेतुभूतचिन्तानाशकमुपायमुपदिशन्तीत्यनुसन्धानाः श्रीमत्प्रभुचरणाः नवरत्नं व्याचिकीर्षन्तः, तत्र चिन्ताया अकरणस्य आज्ञसत्त्वात् स्वभावतः प्राप्तायाश्चिन्ताया अनिवार्यत्वात् तत्स्वरूपमन्यन्निश्चित्य तन्निवृत्त्युपायमुपदिशन्तो मङ्गलमाचरन्ति चिन्तोत्यादि।

यद्यपि ‘अतत्त्व का निर्धार’ एवं ‘अविवेक’ ये दोनों सेवा में प्रतिबंध करते हैं और इनके विपरीत ‘तत्त्व का निर्धारण’ एवं ‘विवेक’ ये दोनों सेवा में होने वाले समस्त प्रतिबंधों की निवृत्ति के साधक हैं, यह सूचित किया गया है तथापि इस ‘तत्त्वनिर्धारण’ के स्वरूप को संक्षिप्त रूप से कहीं नहीं कह गया है। और ‘विवेक’ का स्वरूप भी यद्यपि ‘विवेकधैर्याश्रयग्रंथ’ में कहा गया है तथापि भगवान का आश्रय करने के रूप में कहा गया है। अतः उपर्युक्त विषयों का ध्यान रखते हुए सेवा में अधिदैविकता का संपादन करने के लिए तीन प्रकार के प्रतिबंधों (आधिदैविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक) को नष्ट करने का हेतु संक्षिप्त रूप से श्रीमत्प्रभुचरण यहाँ कह रहे हैं। जिस प्रकार यदि कारण ही नष्ट हो जाय तो उससे होने वाला कार्य भी स्वयं ही नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार इन तीनों प्रतिबंधकों की मूल कारण चिन्ता के नाश का उपाय श्रीमहाप्रभुजी उपदिष्ट कर रहे हैं। और, इसी का अनुसंधान करते हुए श्रीमत्प्रभुचरण ‘नवरत्न’ का विस्तार कर रहे हैं। यहाँ चूँकि आज्ञा तो चिन्ता न करने की है तथापि स्वभाव से ही प्राप्त होने वाली चिन्ता न करनी कठिन है। अतः उस चिन्ता का अन्य कोई दूसरा स्वरूप निश्चित् करते हुए उसकी निवृत्ति का उपाय उपदिष्ट करते हुए चिन्ता इत्यादि शब्दों से श्रीमत्प्रभुचरण मंगलाचरण कर रहे हैं।

चिन्ताशब्दः स्मरणाख्ये मनोव्यापारे योगरूढः। चित्ति स्मृत्यामित्यतो भावेऽङ्ङि कृते चिन्तापदसिद्धेः। ‘स्याच्चिन्ता स्मृतिराध्यान’मिति कोशाच्च। सा तु प्रयत्नमन्तरेणापि, सदृशादृष्टचिन्ताद्यैः तद्रीजबोधकैः तदा तदा सम्भवन्ती न निर्वारयितुं शक्या।

‘चिन्ता’ शब्द स्मरण नामक मनोव्यापार में योगरूढ शब्द है। (मन से की जाने वाली क्रिया को ‘मनोव्यापार’ कहते हैं। टीकाकार कह रहे हैं कि ‘चिन्ता’ शब्द मन से किए जाने वाले स्मरण के अर्थ में योगरूढ-शब्द है। अर्थात् जब किसी का स्मरण किया जाता है तो उसे ‘चितन’ कहते हैं। अब ‘योगरूढ-शब्द’ को समझें। कोई भी शब्द दो प्रकार से बन सकता है, एक योग-अर्थ में एवं दूसरा रूढ-अर्थ में। जब किसी शब्द का अर्थ व्याकरण अथवा तो शब्दकोश में किसी एक विशेष अर्थ में बताया गया हो परंतु लोक में बोलचाल की भाषा में उस शब्द का अर्थ किसी अन्य अर्थ में प्रयुक्त होता हो, तो उसे रूढ-शब्द कहते हैं। इसी प्रकार यदि कोई शब्द भिन्न-भिन्न प्रत्यय अथवा धातु से भिन्न-भिन्न रूप से, भिन्न-भिन्न अर्थों में बनाया जा सके तो उसे यौगिक-शब्द कहते हैं। किंतु यहाँ, टीकाकार कहते हैं कि ‘चिन्ता’ योगरूढ-शब्द है अर्थात् यौगिक भी है और रूढ भी। ये योगरूढ-शब्द कैसे है? यह वे आगे बता रहे हैं।) ‘चित्ति स्मृत्याम्’ इस धातु से भाव-अर्थ में ‘अङ्’ प्रत्यय करके ‘चिन्ता’ शब्द बनता है। शब्दकोश में भी - ‘स्मृति एवं आध्यान अर्थ में ‘चिन्ता’ शब्द का प्रयोग किया जाता है’ - इस प्रकार से कहा गया है। यह प्रयत्न किए बिना भी होने वाली चिन्ता; भाग्य एवं काल जो उसके मूलहेतु हैं, उनके द्वारा होती है और ऐसी चिन्ता निवृत्त होनी शक्य नहीं है।

किञ्च, तस्याः सर्वस्या अकरणे ‘निवेदनं तु स्मर्तव्य’मित्यग्निग्रन्थस्यापि विरोध इति सात्र न निषिध्यत्वेन विवक्षिता, किन्तु शास्त्रेषु प्रस्तुयमाने विचारे ‘अथेदं चिन्त्यत’ इत्यादिप्रयोगदर्शनाद्विचारापरनामा सप्रयत्नः स्मरणविशेषश्चिन्ता, तस्या अपि योऽवस्थाविशेषकृतोऽवान्तरविशेषः, ‘एवमापन्नस्य मे किं स्या’दित्याकारकः, सोऽत्र चिन्तापदेन परामुच्यते। तस्याः सन्तानः परम्परा, तद्वन्तारो निवारका यत्पदाम्बुजरेणवस्तान् निजाचार्यान् मुहुर्मुहुः यदा यदा तत्सम्भवः, तदा तदा तन्निवृत्त्यर्थं प्रकर्षेण कायवाङ्मनसेन नमामीत्यर्थः। तेन तदीयानां प्रथमत इदमेव तन्निवृत्तिसाधनमिति बोधितम्।

और, यहाँ यह भी समझना चाहिए कि, यदि संपूर्ण रूप से चिन्ता न करने का उपदेश दे दिया जाय तो फिर इसी ‘नवरत्न’ ग्रंथ में कहे ‘निवेदनं तु स्मर्तव्यं’ (निवेदन का स्मरण तो करना ही चाहिए) इस वाक्य से विरोध हो जायेगा। अतः इस वाक्य में कहे गये

प्रकार की चिन्ता यहाँ निषेध-रूप से नहीं कही जा रही है अपितु यह कहा जा रहा है कि जैसे शास्त्रों में प्रस्तुत किसी विषय का विचार करने में 'अब इसका चिन्तन किया जाता है' इत्यादि प्रयोग दिखाई देते हैं, उसी प्रकार से 'विचार' के दूसरे नाम से जानी जाती प्रयत्नसहित किए जाने वाले विशेष 'स्मरण' वाली चिन्ता का यहाँ विधान किया जा रहा है । (उपर्युक्त तीन चार पंक्तियों को ध्यान से पढ़ेंगे तो ज्ञात होगा कि टीकाकार 'चिन्ता' एवं 'चितन' शब्द के भेद की ओर संकेत कर रहे हैं । इन दोनों शब्दों का अर्थभेद बताने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम शब्दकोश के द्वारा 'चिन्ता' शब्द का अर्थ बताया है, जहाँ ये कहा गया है कि 'चिन्ता' शब्द स्मृति अर्थात् स्मरण एवं आध्यान अर्थात् भलीभाँति ध्यान करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है । यह अर्थ बताने के पश्चात् वे कहते हैं कि यदि - किसी भी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए-इस प्रकार के उपदेश द्वारा संपूर्णरूप से चिन्ता त्याग दी जाय तो फिर इसी नवरत्नग्रंथ के दूसरे ही श्लोक में कहे 'निवेदन का स्मरण तो करना ही चाहिए' इस वाक्य से उसका विरोध हो जायेगा क्योंकि यहाँ तो श्रीमहाप्रभुजी स्मरण करने का उपदेश दे रहे हैं । इसी बात का स्पष्टीकरण टीकाकार कर रहे हैं कि, हमें इस बात का ध्यान रखना है कि कहाँ चिन्ता न करनी और कहाँ चितन करना । जहाँ तक प्रभुसेवा में उपयोगी द्रव्य-सामग्री आदि के जुगाड़ का प्रश्न है, तो वहाँ चिन्ता नहीं करनी परंतु जहाँ तक श्रीमहाप्रभु के द्वारा प्रभु को किए गये सर्वस्व निवेदन का प्रश्न है, तो वहाँ उसका स्मरण अर्थात् चितन अवश्यकरना, यह अर्थ है) इस शास्त्र में कही जाने वाली चिन्ता भी किसी एक विशेष-अवस्था में प्रयत्नसहित होने वाली एक दूसरे प्रकार की विशेष चिन्ता है परंतु यहाँ (चिन्तासन्तान.....मुहुर्मुहुः पद में) होने वाली चिन्ता तो निवेदन होने के पश्चात् "इस परिस्थिति में आगे मेरा क्या होगा?" इस प्रकार के स्वरूप वाली चिन्ता है, यह जानना चाहिए । अतः ऐसी चिन्ता की जो संतान है अर्थात् परंपरा है, (अर्थात् एक चिन्ता से होने वाली दूसरी चिन्ता, फिर दूसरी से तीसरी और फिर तीसरी से चौथी - इस प्रकार से चिन्ता की शृंखलाएँ) उसको नष्ट करनेवाली अर्थात् निवारण करने वाली जिनके चरणकमलों की रेणु है, ऐसे निजाचार्य (श्रीमहाप्रभुजी) को मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ, यह अर्थ है। अर्थात् जब-जब ऐसी चिन्ताएँ घेर लेती हैं, तब-तब उनकी निवृत्ति के लिए मन-वाणी-कर्म के द्वारा विशेषरूप से मैं नमन करता हूँ, यह अर्थ है। इस वाक्य से यह समझना चाहिए कि, भगवदीयों को इन चिन्ताओं से निवारण के लिए प्रथमतया आचार्यचरणों की शरणागति ही साधन बताई गई है ।

### ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भवः ।

अतःपरं व्याख्येयग्रन्थे चिन्ताया अकरणस्य निवेदितात्मधर्मत्वेनोक्तत्वाद्ब्रह्मसम्बन्धकरणरूपस्य निवेदनस्य चात्र भगवद्दर्माचरणाधिकारत्वेन विवक्षितत्वात् तेन भगवदीयत्वे सति यथा चिन्तोद्भवस्तं प्रकारं ग्रन्थावतरणाय पृच्छति नन्वित्यादि । सिद्धान्तरहस्ये ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वदोषनिवृत्तेरसमर्पितवर्जनेन च भाविदोषासंसर्गस्य व्यवहारानुरोधिगौणधर्मोपदेशेन लौकिकालौकिकनिर्वाहप्रकारस्य चोक्तत्वात् तद्रीत्याऽभीष्टं भगवन्तमनुसन्धानानामैहिकामुष्मिकचिन्ताहेतोर्निरस्तत्वात् केन प्रकारेण चिन्तोद्भवो यन्निवृत्त्यर्थं नवरत्नकरणमित्यर्थः ।

इसके पश्चात् प्रस्तुत नवरत्नग्रंथ में चूँकि 'चिन्ता नहीं करनी चाहिए' यह आत्मनिवेदी का धर्म कहा गया है एवं चूँकि ब्रह्मसंबंधरूप निवेदन कर लेने के पश्चात् भगवद्-धर्माचरण का अधिकार प्राप्त हो जाता है एवं वह जीव भगवदीय हो जाता है, तो ऐसे भगवदीय को जैसी चिन्ता होती है वैसे प्रकार की चिन्ता ग्रंथ आरंभ करने के लिए श्रीमत्प्रभुचरण ननु इत्यादि शब्दों से पूछ रहे हैं । यहाँ श्रीमत्प्रभुचरणों द्वारा 'ननु' इत्यादि शब्दों से शंका उठा कर पूछने का अर्थ यह है कि, जब 'सिद्धान्तरहस्यग्रंथ' में ब्रह्मसंबंध करने के पश्चात् समस्त दोषों की निवृत्ति एवं असमर्पित के त्याग द्वारा भविष्य में होने वाले दोषों का संसर्ग ही नहीं होता है एवं लौकिक-अलौकिक व्यवहारों में किस धर्म को गौण रखना और किसे मुख्य? इस प्रकार से निर्वाह का प्रकार भी तो कह ही दिया गया है अतः इस रीति से सर्वत्र निरंतर भगवान का अनुसंधान करनेवालों की लौकिक-अलौकिक समस्त चिन्ताओं के हेतु तो निरस्त ही हो गये हैं, तो अब उन्हें किस प्रकार से चिन्ता हुई जिसको निवृत्ति के लिए श्रीमहाप्रभुको 'नवरत्नग्रंथ' की रचना करनी पड़ी? यह अर्थ है ।

### इत्थम् । आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः, नेतरे ।

एवं साभिप्रायप्रभमुखेन तादृशां चिन्तोद्भवे आक्षिप्ते तेषां यादृशचिन्तोद्भवस्तं प्रकारं वक्तुं निवेदनस्याधिकाररूपतायास्तत्प्रकारस्य

च कुत्रापि प्रकरणग्रन्थेष्वनुक्तत्वात्तत्रकारकपनादिना तदावश्यकत्वं च दृढीकर्तुं येषां न लौकिकी चिन्ता, ते भगवदीया इति तेषां स्वरूपबोधनाय प्रथमतः पुरःस्फूर्तिकं चिन्तोद्भवप्रकारं बदिष्यन्तस्तत्र हेतुं विकल्पयन्ति इत्यमित्यादि । तथाच । सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या चिन्ताया असम्भवेपि शरीरादियात्रानिर्वाहप्रकारस्य तत्रानुक्तत्वा'दनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं बहाम्यह'मिति भगवदुक्ते निर्वाहप्रकारे प्राप्तस्योक्तविकल्पात्मकहेतोर्वशाच्चिन्ता सम्भवतीति तन्निवृत्त्यर्थं ग्रन्थकरणमित्यर्थः ।

(अब यहाँ से टीकाकार 'इत्थम्' शब्द का अर्थ कर रहे हैं।) इस प्रकार से अभिप्रायपूर्वक प्रश्न करते हुए ऐसे भगवदीयों को जब चिन्ता होती है तो किस प्रकार की चिन्ता होती है ? इसका प्रकार कहने के लिए प्रभुचरण अब आगे कह रहे हैं । चूँकि निवेदन का अधिकार प्राप्त होने के पश्चात् होने वाली चिन्ता का प्रकार अन्य किसी भी प्रकरणग्रंथों में नहीं कहा है, अतः उस प्रकार की चिन्ता एवं उसकी निवृत्ति की आवश्यकता को श्रीमत्प्रभुचरण दृढ़ कर रहे हैं । अतः "जिनको लौकिक चिन्ता नहीं होती है, वे ही भगवदीय हैं" इस प्रकार से उन भगवदीयों का स्वरूप बताने के लिए सर्वप्रथम उन्हें सबसे पहले स्फुरित होने वाली चिन्ता का प्रकार कहते हुए उसके हेतु इत्थम् इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । वह इस प्रकार कि, यद्यपि 'सिद्धान्तरहस्यग्रंथ' में कही गई रीति के अनुसार चिन्ता होनी संभव नहीं है तथापि इस शरीर-आदि का निर्वाह कैसे करना ? (अर्थात् देहनिर्वाह के लिए कोई उद्यम व्यापार, परिवारजनों का भरणपोषण आदि कैसे करना ?) यह न कहकर केवल "जो अनन्यता से मेरा चिंतन करते हुए भक्तिभाव से मेरा भजन करते हैं, उनके योगक्षेम का मैं स्वयं वहन करता हूँ (भ.गी. ९/२२)" इस भगवान द्वारा कहे गये निर्वाह के प्रकार में उपर कही गई (देखें प्रभुचरणों की टीका 'इत्थम्' से लेकर 'इतरेण वा' तक) चिन्ता होती है अतः ऐसी चिन्ता के निवारण के लिए श्रीमहाप्रभुजी ने 'नवरत्नग्रंथ' की रचना की है, यह श्रीमत्प्रभुचरण कह रहे हैं ।

तत्र चैहिकपारलौकिकयोरर्थयोर्नावशिष्टं किञ्चिदसमर्पितम् । एवं सति देहादिनिर्वाहः केन कार्यः, किं निवेदितार्थेन, उत इतरेण वा । तत्र नाद्यः । तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात् । वस्तुतस्त्विच्छायामपि सत्यां तदुपयोगोऽनुचितः सेवकस्य । न च तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषायेति वाच्यम् । स्वतस्तथाकृतेर्दोषावहत्वात्तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादित्युक्तम् ।

एवं सम्भवहेतुं विकल्प्याद्यं परिहरन्ति तत्रेत्यादि । आद्यः निवेदितेनैव निर्वाहः कार्य इति पक्षो न युज्यते । तत्र हेतुस्तदीयार्थस्येत्यादि । नन्वेकादशोर्नविंश आत्मनिवेदिनां धर्माः 'श्रद्धामृतकथायां म' इत्यादिनोपदिष्टाः, ते च शरीरस्थियन्तरेणानुपपद्यमानास्तद्धेतुमाक्षिपन्तो निवेदितेनैव निर्वाहमाक्षिपन्तीति नेच्छाया ज्ञातुमशक्यत्वमित्यत आहुः वस्तुत इत्यादि । अनुचित इति । भगवद्वाक्यतात्पर्यज्ञानाभावादनुचितः । सेवकस्येति । हेतुगर्भं विशेषणम् । तथा चेच्छाज्ञानेपि प्रत्यक्षाज्ञाभावेन स्वतस्तथाकरणे भक्तिमार्गविरुद्धस्य स्वातन्त्र्यस्य सम्भवादनुचित इत्यर्थः । पुनः प्रकारान्तरेणौचित्यमाशङ्क्य परिहरन्ति न चेत्यादि । दोषावहत्वादिति । देहादेर्भगवदीयत्वेपि तत्र स्वत्वाभिमानस्यानपेतत्वेन तथात्वादित्यर्थः ।

इस प्रकार से होने वाली चिन्ता का पहला विकल्प वे तत्र इत्यादि शब्दों से निरस्त कर रहे हैं । वे कह रहे हैं कि - निवेदित वस्तुओं से ही निर्वाह करना चाहिए-यह प्रथमपक्ष अयुक्त लगता है और वह क्यों अयुक्त है, इसका स्पष्टीकरण उन्होंने तदीयार्थस्य इत्यादि शब्दों से दिया है । प्रभुचरणों ने तो यह कहा ही है कि भगवान को निवेदित किए गये पदार्थों का उपयोग करने से पूर्व भगवान की इच्छा वैसी है कि नहीं, यह जान लेना अशक्य है परंतु फिर भी यदि कोई पूर्वपक्षी यह शंका करे कि एकादश स्कंध के उन्नीसवें अध्याय में 'मेरी अमृतमयी कथा में मृत को श्रद्धा रखनी चाहिए (श्री.भा. ११/१९/२०)" इत्यादि वाक्यों में आत्मनिवेदियों के धर्म स्वयं भगवान ने बताये हैं; जहाँ उन्होंने स्वयं निवेदित पदार्थों से ही जीवननिर्वाह का उपदेश दिया है, तो फिर प्रभुचरण यह क्यों कह रहे हैं कि भगवद्-इच्छा जाननी अशक्य है ? एकादश-स्कंध के उन्नीसवें अध्याय में कहे गये वे धर्म शरीर के न रहने पर तो किए नहीं जा सकते अतः इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हुए आपश्री वस्तुतः से लेकर अनुचितः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । आपश्री का तात्पर्य यह है कि यदि भगवान की इच्छा जान लेनी संभव भी हो जाय, तब भी सेवक के लिए तो स्वामी की वस्तु का उपयोग करना अनुचित ही है । अनुचित पद का अर्थ है - भगवान के वाक्यों के तात्पर्य का सही ज्ञान न होने के कारण सहसा ऐसा कर लेना अनुचित है । अब सेवकस्य शब्द का विवेचन कर रहे हैं । इस पद के द्वारा प्रभुचरणों ने जीव को 'सेवक' विशेषण द्वारा संबोधित किया है जिसके गर्भ में कोई विशेष हेतु छिपा हुआ है । और वह हेतु यह है कि चूँकि वह सेवक है एवं उसे भगवान की आज्ञा भी ज्ञात हो गई हो तथापि प्रत्यक्ष-आज्ञा तो

नहीं हुई है । अतः स्वयं ही ऐसा कर लेने पर सेवक में भक्तिमार्ग के विरुद्ध स्वच्छंदता आ सकती है, इस कारण से अनुचित है - यह अर्थ है । तिस पर भी यदि कोई ऐसा करना उचित ठहराता हो तो प्रभुचरण इसे न च से लेकर दोषावहत्वात् तक की पंक्ति द्वारा निरस्त कर रहे हैं । वे कहते हैं कि भले ही देह-आदि भगवदीय हो गये हों तथापि यदि कोई स्वयं ही भगवद्-आज्ञा मानकर अपने प्रभु की वस्तु का उपयोग करना आरंभ कर दे तो ऐसे में उसके स्वत्व का अभिमान दूर नहीं होगा और वह दोषग्रस्त हो जायेगा, यह अर्थ है ।

न द्वितीयः, अस्वधर्मत्वात् । निवेदितस्यार्थस्य स्थित्यार्थं स्वस्य विचारस्याप्यनुचितत्वात् । तदभिमाने तत्सम्भवात् ।

द्वितीयं परिहरन्ति न द्वितीय इत्यादि । तत्र हेतुः अस्वधर्मत्वादिति । तदुपपादयन्ति निवेदितस्येत्यादि । भगवता ह्यात्मसमर्पणमिदं स्वत्वाभिमानत्यागार्थमेवाधिकारिविशेषणतयोपदिष्टम् । तत्पूर्वकमेव सेवाकरणस्य महद्विमृग्यभक्त्युत्कृष्ट-कारणत्वात् । अन्यथा अत्रोक्तानां पूर्वमेकादशाध्यायेप्युक्तत्वाद्त्रोक्तेषु विशेषाभावे उत्कृष्टकारणत्वप्रतिज्ञानं विरुद्धं स्यात् । उत्कृष्टत्वं त्वत्रानन्यथासिद्धत्वमेव । नत्वन्यत् । तथा सति पूर्वोक्तेष्वेतत्कारणत्वाभावप्रसङ्गात् । न चेष्टापत्तिः । तथा सत्येतेषु परत्वोक्तेर्विरोधप्रसङ्गादिति । अतो यथान्यस्मिन्निवेदितेऽयं नाभिमन्यते, तथा देहादावपि युक्तम् । तद्यद्यनिवेदितेन देहादिनिर्वाहं चिन्तयेत्, तदा स्वत्वाद्यभिमानदाढ्यापत्त्या स्वस्वधर्मो बाध्येतेति स्वधर्मविरोधेन तथात्वादित्यर्थः ।

दूसरे पक्ष का परिहार न द्वितीय इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं है, इसका हेतु उन्होंने अस्वधर्मत्वात् पद से दिया है । इसी हेतु का विवरण वे निवेदितस्य इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं । भगवान ने इस आत्मसमर्पण का उपदेश निश्चित रूप से स्वत्व के अभिमान के त्याग के लिए उपदिष्ट किया है अर्थात् स्वत्व के अभिमान का त्याग करके आत्मसमर्पण करने वाले भक्त ही यहाँ पुष्टिमार्ग में विशेष अधिकारी हैं । क्योंकि इस प्रकार स्वत्व के अभिमान के त्यागपूर्वक भगवत्सेवा करनी ही महद्विमृग्यभक्ति प्राप्त करने का उत्कृष्ट कारण है । यदि ऐसा न होता कि यहाँ (अर्थात् श्री. भा. ११/१९/१९-२४ में) कोई महद्-विमृग्यभक्ति अर्थात् किसी विशेष उत्कृष्ट भक्ति का उपदेश भगवान ने न कहा होता तो पूर्व में (अर्थात् श्री. भा. के ११/११/४९ के श्लोक में ) दिया गया उपदेश और यहाँ ११/१९/१९-२४ में दिए गये भक्ति के उपदेशों में न कोई अंतर रहता और न कोई विशेषता रहती । और तो और, यहाँ ११/१९/१९ के श्लोकों में भगवान ने जो प्रतिज्ञा करते हुए महद्-विमृग्य नामक किसी विशेष उत्कृष्ट भक्ति को बताने का उपदेश दिया है, वह उनकी प्रतिज्ञा भी विरुद्ध और झूठी सिद्ध हो जाती । अतः यहाँ श्री. भा. ११/१९/१९-२४ इत्यादि श्लोकों में कही भक्ति की उत्कृष्टता तो इन श्लोकों में कहे गये असाधारण कारणों ही सिद्ध है, साधारण कारणों से नहीं । क्योंकि पूर्व में ११/११/४९ इत्यादि श्लोकों में ऐसे कोई असाधारण कारणों की कोई बात भगवान ने कही नहीं है । ऐसे में यह भी नहीं कहा जा सकता श्री. भा. ११/१९/१९-२४ एवं ११/११/४९ इन दोनों स्थलों पर केवल साधारण भक्ति का ही उपदेश है । क्योंकि ऐसा कहने पर बात श्री. भा. ११/१९/१९-२४ में कहे परमभक्ति के कथन से विरुद्ध हो जायेगी, जहाँ स्वयं भगवान उद्धवजी से परमभक्ति का उपदेश करने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं । अतएव जिस प्रकार भगवान के अतिरिक्त अन्य में निवेदन किया जाय तो प्रभु उसे नहीं स्वीकारते, उसी प्रकार देह-आदि के निवेदन में भी यही बात समझनी चाहिए । अतः यदि अनिवेदित से देह-आदि के निर्वाह का विचार करेंगे तो स्वीयत्व का अभिमान (अर्थात् यह सभी कुछ मैं खुद ही कर रहा हूँ, ऐसा अभिमान) दृढ़ होगा और स्वधर्म (अर्थात् अहंताममता के त्यागपूर्वक भगवान की ही शरणागति करनी स्वधर्म है) बाधित होगा । अतः स्वधर्म बाधित न हो, इसके लिए सर्वस्व भगवान को निवेदित करना चाहिए, यह अर्थ है ।

एवं सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात्तद्वैयर्थ्यापातः । मार्ग एव चायमुच्छिद्येत । अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः पाशा रज्जुरिति चेत् ।

एवं हेतुद्वयं परिहृत्य यथाचिन्तोद्भवस्तं प्रकारमाहुः एवं सतीत्यादि । एवं देहादिनिर्वाहप्रकारद्वये बाधिते सति देहादेस्तथात्वेन भजनासम्भवानिवेदनवैयर्थ्यं पुष्टिमर्यादात्मकभक्तिमार्गोच्छेदश्चेति भगवता भक्त्यधिकारवाक्यं भक्तिपरमकारणवाक्ये किमभिप्रायेणोक्तम् । ततश्च तदर्थज्ञानासम्भवे तदुक्तकरणस्यापि व्यङ्गत्वात्कथं परमभक्तिलाभ इत्येवं तत्सम्भव इत्यर्थः ।

इस प्रकार देहादि का निर्वाह करने के लिए दोनों हेतुओं का परिहार करके (प्रभुचरणों की टीका में देखेंगे तो ज्ञात होगा कि, उन्होंने प्रभु को सर्वस्व निवेदन कर देने के पश्चात् देहादि का निर्वाह कैसे करना ? इस शंका के उत्तर में दो हेतु प्रस्तुत किए थे । एक हेतु यह कि 'क्या

निवेदित किए जा चुके धन से निर्वाह करना ?' एवं दूसरा हेतु यह कि 'क्या धन को अनिवेदित रखते हुए उस धन से निर्वाह करना ?' श्री पुरुषोत्तमजी का तात्पर्य इन दोनों हेतुओं के परिहार से है) चिन्ता जिस प्रकार से हो सकती है, उसको एवं सति इत्यादि वाक्यों से प्रभुचरणों ने कहा है। 'एवं सति' से लेकर 'इति चेत्' तक की पंक्तियों का अर्थ यह है कि, यदि इन दोनों ही प्रकारों से देह-आदि का निर्वाह करना संभव न होता हो, तो ऐसे तो देह ही नष्ट हो जायेगी और जब देह ही न रही तो भजन करना भी असंभव है। इस प्रकार संपूर्ण निवेदन के व्यर्थ हो जाने से पुष्टिमर्यादात्मक भक्तिमार्ग का ही उच्छेद हो जायेगा। अतः भगवान ने भक्ति में अधिकार उत्पन्न करने वाले वाक्य भक्ति के परम कारण को बताने वाले वाक्य में किस अभिप्राय से कहे, यह प्रश्न उपस्थित होता है।

अत्र वदामः । “दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्” । “एवं धर्मैर्मुण्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्योस्यावशिष्यत्” इत्यादिवाक्यैस्तदावश्यकम्, साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारवत् । (निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्धार्थमा वश्यकव्यवहारार्थं निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः ।)

एवं चिन्तासम्भवव्युत्पादनमुखेनात्मनिवेदनस्यावश्यकत्वे आक्षिप्ते प्रमाणपुरःसरं तदावश्यकत्वं साधयन्त उभयतःपाशं परिहरन्ति अत्रेत्यादि । इह दारानितिवाक्यमेकादशे प्रबुद्धेन 'तत्र भागवतान् धर्मान् शिष्येर्दुर्वात्मदैवतम् । अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्मात्मदो हरि'रिति भगवत्तोषहेतुन् धर्मानुपक्रम्य तत्र पठितम् । दारादीनालक्ष्य यत् परमेश्वराय निवेदनं तदुपयोगितया समर्पणं तत् शिष्येदिति तत्रपदसम्बन्धादारादिनिवेदनस्य भगवत्तोषहेतुत्वं बोधयति । द्वितीयं तु भगवता भक्तिपरमकारणमुपक्रम्य तदधिकारिविशेषणबोधनाय पठितमिति तत्र तदावश्यकतां बोधयति । आदिपदेन 'दास्येनात्मनिवेदन'मिति भगवद्वाक्यं स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन चेति बल्याचारबोधकवाक्यं च संकृष्यते । अत एतादृशैर्वाक्यैः स्वसर्वस्वसहितात्मसमर्पणं भक्तिमार्गं आवश्यकम् । तत्र हेतुर्दृष्टान्तश्च साक्षादित्यादिना स्फुटीक्रियते ।

और, भगवान के वाक्यों का अर्थज्ञान होना भी तो संभव नहीं है अतः उनके वाक्यों में कही भक्ति को प्राप्त करने में साधनरूप तो देह है और इस देह के ही भंग हो जाने से परमभक्ति भी कैसे प्राप्त होगी ? इन कारणों का विचार करते हुए जीव को चिन्ता होनी संभव है, यह अर्थ है ।

इस प्रकार से प्रभुचरण इन चिन्ताओं की संभावनाओं को व्युत्पादित करते हुए, यह बता रहे हैं कि ऐसी परिस्थिति में जब निवेदन की आवश्यकता आ पड़ती है, तब उस आत्मनिवेदन को प्रमाणसहित साधते हुए दोनों ओर की कठिनाई अत्र इत्यादि शब्दों से दूर कर रहे हैं । यहाँ 'दारान् (श्री.भा. ११/३/२८)' इस वाक्य के अंतर्गत यह समझना चाहिए कि एकादश स्कंध में 'प्रबुद्ध' नामक योगेश्वर ने "भक्त को चाहिए कि गुरु की निष्कपट भाव से सेवा करके भगवान को प्राप्त कराने वाले साधनों की शिक्षा ग्रहण करे । इन्हीं 'साधनों' से भगवान प्रसन्न होते हैं (श्री.भा. ११/३/२२)" इत्यादि वाक्यों में भगवान को प्रसन्न करने के हेतुभूत धर्मों को उपक्रमित करके बताया गया है । इन वाक्यों का अर्थ यह निकलता है कि पत्नी-आदि का जो भगवान को निवेदन करना बताया गया है, ऐसे भगवत्सेवा में उपयोगी समर्पण को गुरु अपने शिष्य को सिखाए । अतः इस श्लोक में आए 'तत्र' पद के द्वारा 'पत्नी-आदि को भगवान को समर्पित करना भगवान की प्रसन्नता का हेतु है' यह अर्थ बोधित किया जा रहा है । दूसरे श्लोक अर्थात् "एवं धर्मैः इस श्लोक में भगवान ने भक्ति के परमकारण को बताते हुए उस परमभक्ति को प्राप्त करने के अधिकारी कौन हैं ?" इस प्रकार से उस अधिकारी का बोध कराने के लिए वहाँ स्वत्व-अभिमान के त्यागपूर्वक निवेदन को आवश्यकता बोध कराई है । एवं 'आदि' पद से प्रभुचरणों का आशय 'दास्यभाव से मुझे आत्मनिवेदन करे (श्री.भा. ११/११/३५)" इस भगवद्-वाक्य में कहा गया आत्मनिवेदन एवं श्री. भा. १०/८५/३७ के श्लोक में कहा गया वह आत्मनिवेदन भी है, जहाँ राजा बलि ने भगवान श्रीकृष्ण को अपना समस्त परिवार अपना धन तथा शरीर सभी कुछ समर्पित कर दिया है ।

अतः ऐसे वाक्यों के द्वारा स्वयं के सर्वस्वसहित भगवान को आत्मसमर्पण करना भक्तिमार्ग में आवश्यक है । इसमें हेतु एवं दृष्टांत प्रभुचरण साक्षात् इत्यादि वाक्यों से स्फुट कर रहे हैं ।

न'चैवं धर्मै'रितिवाक्ये स्वकृतधर्मपिष्यया मनुष्यत्वस्य पूर्ववर्तित्वेन तत्र तेषां हेतुतयाऽनन्वयेप्यात्मनिवेदिनामिति तद्विशेषणं प्रति हेतुत्वस्य सुवचत्वात्तं प्रत्येव तेषां हेतुत्वं तस्य भक्तिं प्रतीतिप्रतीतेः स्फुटत्वादात्मनिवेदनस्य धर्मकरणं प्रत्यधिकारत्वमयुक्तमिति शङ्क्यम् ।

साक्षात् क्रियान्वयं विहायैवं कल्पने बीजाभावात् । धर्माणां तत्रोपक्षये आत्मनिवेदनोत्तरं तदकरणप्रसङ्गात् । दास्येनात्मनिवेदनस्य प्रागुक्तत्वेन दास्यापेक्षया न्यूनश्रद्धादिधर्मजन्यात्मनिवेदनस्यात्र परत्वोक्तेर्बीजानुपलम्भाच्च । तस्मादात्मनिवेदन-स्याधिकारत्वायैवैवमुक्तिरिति निश्चय इति बोध्यम् ।

यहाँ एकादशस्कंध के 'एवं धर्मैः' इस वाक्य में धर्म' शब्द के संग पहले तो 'मनुष्य' शब्द जुड़ा है, जिससे यह उलझन पैदा होती है कि कहीं यहाँ मनुष्य के धर्म तो नहीं बताए जा रहे ? परंतु 'धर्म' एवं 'मनुष्य' शब्द के बाद आत्मनिवेदी शब्द भी आया है एवं यहाँ इस वाक्य में प्रसंग भी आत्मनिवेदियों का ही चल रहा है, मनुष्यधर्मों का नहीं अतः आत्मनिवेदी शब्द 'मनुष्य' शब्द का विशेषण है और यहाँ आत्मनिवेदी के धर्म बताए जा रहे हैं, यह अर्थ सिद्ध हो जाता है। तथापि इस वाक्य से कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि इन भागवतधर्मों से आत्मनिवेदन उत्पन्न होता है और आत्मनिवेदन से फिर भक्ति उत्पन्न होती है अतः यदि कोई इस प्रकार की शंका करके यह कहता हो कि आत्मनिवेदन धर्म करने का अधिकाररूप नहीं हो सकता, तो ऐसी शंका मत करिए । क्योंकि सर्वप्रथम तो जब इस श्लोक का सीधा-साधा अर्थ स्पष्ट हो रहा है तो फिर इसे घुमा-फिरा कर अर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं है । दूसरा कारण यह है कि, चलिए एक बार यह मान लिया जाय कि इन भागवतधर्मों से आत्मनिवेदन उत्पन्न होता भी है, तो फिर एक बार इन धर्मों द्वारा आत्मनिवेदन उत्पन्न होने के पश्चात् ये धर्म तो आत्मनिवेदन को उत्पन्न करने में ही खप गये, तो अब पुनः इन धर्मों का आचरण करने को कहाँ अवकाश रह जाता है ? और यदि ऐसा ही है, तो भगवान को इन धर्मों का इतना लंबा-चौड़ा उपदेश देने की क्या आवश्यकता थी ? यह प्रश्न उपस्थित होता है।

तथा च त्रैवर्णिकत्वेन सत्यामपि स्वरूपयोग्यतायामुपनयनं विना वैदिककर्मणि यथा नाधिकारः, तथा 'देवोऽसुरो वे'ति 'को नु राजचिन्द्रियवा'निति च वाक्यात् स्वरूपयोग्यत्वेपि निवेदनं विना विवक्षितभक्तौ नाधिकार इति सिध्यति । एवं निवेदनस्वरूपस्यानवगमे भजनासिद्धिं स्फुटीकुर्वन्ति अन्यथेत्यादि । यदि भगवद्वाक्यस्य आत्मनिवेदिपदे दाराद्यात्मा न सङ्गृह्येत, तदा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तथा तदात्मनिवेदने अकृते तस्या आत्मनिवेदित्वाभावादनधिकारेणाग्रे सेवायां तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिरत उक्तरीत्या तज्ज्ञानमावश्यकमित्यर्थः । तथा च यथा गायत्र्युपदेशजनित उपनयनसंस्कारः प्रतिपुरुषं भवंस्तस्य तस्य वैदिककर्मोपकारकदेहादिनिर्वाहप्रयोजकभिष्ठादिकर्मणां न प्रतिरोधकः, तथोक्तरीत्या निवेदनरूपः संस्कारोपि भजनोपकारक-देहादिनिर्वाहप्रयोजकस्य निवेदितोपयोगस्य न प्रतिरोधक इति नोभयतःपाशारज्जुरित्यर्थः ।

यद्यपि ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य (त्रैवर्णिक) इन वर्णों में वैदिक-कर्मों को करने की स्वरूपयोग्यता है परंतु जैसे उपनयन संस्कार किए बिना इन्हें वैदिककर्मों को करने का अधिकार प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार श्रीमद्-भागवत में कहे गये "देव, असुर, मनुष्य, यक्ष कोई भी हो, भगवान मुकुंदचरणों का भजन करने से कल्याण का भागी होता है (७/७/५०)", एवं "हे राजन् । ऐसा कौन है, जिसके इद्रियाँ तो हैं परंतु भगवान मुकुंदचरणों की सेवा न करना चाहे ? (११/२/२)" इन वाक्यों के अनुसार सभी में भगवान का भजन करने की स्वरूपयोग्यता तो अवश्य है परंतु आत्मनिवेदन किए बिना यहाँ कही जाने वाली (अर्थात् इस ग्रंथ में कही जा रही) भक्ति का अधिकार प्राप्त नहीं होता यह सिद्ध होता है । इस प्रकार निवेदन का स्वरूप न समझने से भजन सिद्ध नहीं हो सकता अतः निवेदन क्या/कैसा है, यह प्रभुचरण अन्यथा इत्यादि शब्दों से स्पष्ट कर रहे हैं । यहाँ 'अन्यथा' से लेकर 'आपत्तिः' तक की पंक्ति का अर्थ यह है कि भगवद्-वाक्यों के अंतर्गत (अर्थात् एवं धर्ममनुष्याणां... श्लोक के अंतर्गत जहाँ आत्मनिवेदी पद आया है, वहाँ) "आत्मनिवेदी" शब्द से पत्नी आदि भी भगवान की निवेदित नहीं करेंगे तो पत्नी से विवाह करने के पश्चात् तुरंत ही भगवत्सेवा में उसका विनियोग नहीं हो सकेगा क्योंकि वह भगवत्सेवा की अधिकारिणी नहीं है । ऐसा होने पर तो उससे विवाह करना ही व्यर्थ हो जायेगा अतः उपर्युक्त रीति से निवेदन का ज्ञान होना आवश्यक है, यह अर्थ है । और भी, जैसे किसी व्यक्ति का गायत्री-उपदेश के द्वारा उपनयन-संस्कार हो जाने के पश्चात् वैदिककर्मों को करने के लिए चूँकि देहनिर्वाह करना आवश्यक है अतः उपनयनसंस्कार होने के पश्चात् देहनिर्वाह के लिए जैसे उसका भिक्षा-आदि माँगना अनुचित नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी यह समझना चाहिए कि निवेदनरूप संस्कार हो जाने के पश्चात् भगवान का भजन करने के लिए भी तो देहनिर्वाह करना आवश्यक है ही, अतः निवेदन करने के पश्चात् प्रभु-प्रसादी से जीवन निर्वाह करना अनुचित नहीं है। अतः यहाँ "आगे कुँआ तो पीछे खाई" जैसी कोई भी परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती है, यह अर्थ है । इस प्रकार निवेदन का स्वरूप न समझने से भजन सिद्ध नहीं हो सकता अतः निवेदन क्या/कैसा है, यह प्रभुचरण अन्यथा इत्यादि शब्दों से स्पष्ट कर रहे हैं । यहाँ 'अन्यथा' से लेकर 'आपत्तिः' तक की पंक्ति का अर्थ यह है कि भगवद्-वाक्यों के अंतर्गत (अर्थात् एवं धर्ममनुष्याणां... श्लोक के अंतर्गत जहाँ आत्मनिवेदी पद आया है, वहाँ) "आत्मनिवेदी" शब्द से पत्नी आदि भी भगवान की निवेदित नहीं करेंगे तो पत्नी से विवाह



करने के पश्चात् तुरंत ही भगवत्सेवा में उसका विनियोग नहीं हो सकेगा क्योंकि वह भगवत्सेवा की अधिकारिणी नहीं है। ऐसा होने पर तो उससे विवाह करना ही व्यर्थ हो जायेगा अतः उपर्युक्त रीति से निवेदन का ज्ञान होना आवश्यक है, यह अर्थ है। और भी, जैसे किसी व्यक्ति का गायत्री-उपदेश के द्वारा उपनयन-संस्कार हो जाने के पश्चात् वैदिककर्मों को करने के लिए चूँकि देहनिर्वाह करना आवश्यक है अतः उपनयनसंस्कार होने के पश्चात् देहनिर्वाह के लिए जैसे उसका भिक्षा-आदि माँगना अनुचित नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी यह समझना चाहिए कि निवेदनरूप संस्कार हो जाने के पश्चात् भगवान का भजन करने के लिए भी तो देहनिर्वाह करना आवश्यक है ही, अतः निवेदन करने के पश्चात् प्रभु-प्रसादी से जीवन निर्वाह करना अनुचित नहीं है। अतः यहाँ "आगे कुँआ तो पीछे खाई" जैसी कोई भी परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती है, यह अर्थ है।

अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदनेऽकृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः ।

अत्र दारपदं चेतनयोः पुत्राप्तयोरप्युपलक्षकम् । उत्तरक्षणपदं चावश्यकत्वपरम् । न त्वव्यवहितोत्तरत्वपरम् । अशक्योपदेशत्वापादकत्वात् । अथवा । उत्तरक्षण एव तद्वैयर्थ्यापत्तिरिति योजना, तेन न कोपि दोषः । एवं चोक्तवाक्यद्वयविचारे दारादिनिवेदनं स्वात्मना सह क्रियमाणं पृथक् धर्मरूपम्, दारादिभिः स्वयं क्रियमाणं त्वधिकाररूपमिति सिध्यतीति । एकेन स्वसर्वस्वनिवेदने तेषां निवेदितत्वेपि तेषां स्वस्वसंस्काराय पृथक् तत्करणं युज्यते । तस्मात्सुष्ठु अन्यथा तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिरिति ।

यहाँ 'दार' पद से पुत्र एवं अन्य परिवारजन भी समझ लेने चाहिए। प्रभुचरणों ने जो यहाँ 'उत्तरक्षण' पद का प्रयोग किया है, वह विवाह के पश्चात् उसे (पति या पत्नी) भगवन्सन्मुख आत्मनिवेदन करने की आवश्यकता बताने के लिए किया है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि विवाह होते ही तुरंत अथवा तो पाणिग्रहण करते ही उसका आत्मनिवेदन करा लिया जाय, क्योंकि ऐसी आज्ञा का पालन करना तो अशक्य हो जायेगा। तात्पर्य यह कि विवाहोपरांत शीघ्रातिशीघ्र प्रभुसन्मुख उसका आत्मनिवेदन करा देना चाहिए। अथवा तो "उत्तरक्षण" पद का दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि, अनिवेदित व्यक्ति से विवाह करने के तुरंत बाद वह विवाह व्यर्थ सिद्ध हो जाता है। ऐसे ढंग से अर्थ कर लेने में भी कोई दोष नहीं है। इस प्रकार इन दोनों वाक्यों का विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि, जब हम पत्नी-पुत्र-परिवारजनों के सहित निवेदन करते हैं, तब वह पृथकरूप से हमारा निवेदन होता है एवं जब पत्नी-पुत्र आदि परिवारजन अलग से निवेदन करते हैं, तब उन्हें भगवत्सेवा का अधिकार प्राप्त होता है। अर्थात् एक व्यक्ति आत्मनिवेदन करते समय अपना सर्वस्व निवेदन करता है तो उससे संबंधित सभी परिवारजन निवेदित हो जाते हैं परंतु उन परिवारजनों को अपने-अपने संस्कार के लिए पृथकरूप से अत्मनिवेदन करना चाहिए। अतएव प्रभुचरणों ने "अन्यथा...आपत्तिः" इत्यादि वाक्य कहे हैं, सो उचित ही हैं।

अपरं च । दाने हि न स्वविनियोगो, न तु निवेदने ।

ननु भवत्वेवमिच्छाज्ञानेनोभयतःपाशनिवृत्तिः, तथाप्याज्ञाऽभावे स्वतस्त-थाकरणे यो दोषः, स कथं निवर्तेतेत्यत आहुः अपरं चेत्यादि । दानं नाम स्वत्वपरित्यागपूर्वकः परस्वत्वोत्पादनानुकूलः, 'तुभ्यमहं सम्प्रदे न मम', इत्यादिशब्दाभिव्यङ्ग्यो मनोव्यापारः । तस्मिन् कृते सति हि निश्चयेन न स्वविनियोगः । दत्तापहारदोषोत्पादकत्वात् । निवेदनं तु तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकः स्वत्वाभिमानत्यागानुकूलः 'तुभ्यं समर्पयामि, निवेदयामी'त्यादिशब्दाभिव्यङ्ग्यस्तद्विलक्षणो मनोव्यापारः । तस्मिन्कृते तु न स्वविनियोगो दोषाय । दत्तापहारदोषानुत्पादकत्वात् ।

यहाँ एक शंका यह उत्पन्न होती है कि, चलिए मान लें कि इस प्रकार प्रभु-प्रसादी से जीवन निर्वाह करना भगवान की ही आज्ञा है, यह हमने जान लिया और 'आगे कुँआ तो पीछे खाई' वाली परिस्थिति का भी निवारण हो गया परंतु जब तक हमें स्वयं भगवान की साक्षात् आज्ञा न हो जाय, तब तक भगवान को दे दी गई वस्तुओं से हम साक्षात् भगवद्-आज्ञा के बिना अपने मन से ही निर्वाह करते हों तो इस दोष की निवृत्ति कैसे हो ? तो इस समस्या का समाधान प्रभुचरणों ने अपरं च इत्यादि शब्दों से किया है। सर्वप्रथम तो यह समझिए कि 'दान' किसे कहते हैं। जब किसी वस्तु पर से अपने स्वत्व (स्वत्व का अर्थ होता है, किसी वस्तु पर अपना अधिकार) का परित्याग करके "यह मैं तुझे देता हूँ, अब यह वस्तु मेरी नहीं है" इस प्रकार से कहते हुए दूसरे का स्वत्व स्थापित कर दिया जाय

तो इस प्रक्रिया को 'दान' कहते हैं । यदि इस प्रक्रिया के द्वारा कोई वस्तु किसी को दे दी गई हो तो निश्चितरूप से फिर उसे अपने उपयोग में नहीं लेनी चाहिए क्योंकि तब इसमें 'दत्तापहारदोष' आ जाता है । ('दत्तापहारदोष' का अर्थ होता है, दे दी गई वस्तु को पुनः वापस ले लेने का दोष) । परंतु जिस प्रक्रिया द्वारा भगवान को निवेदन किया जाता है, उस प्रक्रिया में ऐसा नहीं होता । निवेदन की प्रक्रिया में तो भगवदीयता का अनुसंधान रखते हुए अपने स्वत्व के अभिमान का त्याग करते हुए 'यह मैं तुम्हें समर्पण करता हूँ, निवेदन करता हूँ' इत्यादि वाक्य कहते हुए दान से भिन्न प्रकार की प्रक्रिया होती है । अतः समर्पण करने के पश्चात् यदि हम उसका उपयोग करें तो दोष नहीं होता है । क्योंकि इस प्रक्रिया में किसी दूसरे को दान में दी गई वस्तु को फिर से अपने उपयोग में लेने का दोष उपस्थित नहीं होता है ।

अन्यथा निवेदानादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् । निवेदानामर्यानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा, दासधर्मत्वात् । 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैः । आत्मशोधकत्वाच्च ।

तत्र गमकमाहुः अन्यथेत्यादि । यदि स्वत्वत्यागपरस्वत्वोत्पत्त्यानुकूल्ययोर्दाने निवेदने च तुल्यतायामपि कश्चिद्विशेषो न स्यात्, तदा पुराणेष्वनिवेदितस्य निषिद्धत्वानिवेदानादेर्भोजनं नोक्तं स्यात् । तत्तुच्यते । तथा हि । हरिवल्लभसुधोदये स्कान्दे 'नैवेद्यशेषं तुलसीविमिश्रं विशेषतः पादजलेन सिक्तम् । योऽश्नाति नित्यं पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटिपुण्यम् । षड्भिर्मांसोपवासैस्तु यत्फलं परिकीर्तितम् । विष्णोर्नैवेद्यसिक्त्येन तत्फलं भुञ्जतः कला'विति । गारुडे च 'पादोदकं पिबेन्नित्यं नैवेद्यं भक्षयेद्धरेः । शेषाश्च मस्तके धार्या इति वेदानुशासन'मिति । ब्रह्माण्डे च 'पत्रं पुष्पं फलं तोयमन्नपानाद्यमौषधं । अनिवेद्यं न भुञ्जीत यदाहाराय कल्पितम् । अनिवेद्यं तु भुञ्जानः प्रायश्चित्ती भवेन्नरः । तस्मात्सर्वं निवेद्यैव विष्णोर्भुञ्जीत सर्वदे'ति । पद्मपुराणेपि गौतमः 'अम्बरीष गृहे पक्वं सदाभीष्टं यदात्मनः । अनिवेद्यं हरेर्भुञ्जन् ससजन्मानि नारकी । अम्बरीष नवं चत्वं फलमन्नं रसादिकम् । कृत्वा विष्णुपभोग्यं तु सदा सेव्यं हि वैष्णवै'रिति

इसका हेतु प्रभुचरण अन्यथा इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । वह यह कि अपने स्वत्व का त्याग करके दूसरे के स्वत्व को स्थापित करने वाली दान की प्रक्रिया में और निवेदन करने की प्रक्रिया में यदि कोई विशिष्टता न होती तो पुराणों में अनिवेदित पदार्थों का उपभोग करना निषिद्ध बता कर निवेदित-पदार्थों का भोजन करना न कहा गया होता । परंतु कहा गया है । जैसे हरिवल्लभसुधोदय में "जो भक्त तुलसीमिश्रित एवं विशेषरूप से चरणोदक मिले हुए भगवत्प्रसाद को नित्य ग्रहण करता है, वह भगवान को प्राप्त करता है और उसे हजारों करोड़ यज्ञों का फल प्राप्त होता है ।" "छह महिने के उपवास के द्वारा जो फल बताया गया है, वह फल इस कलि में भगवान विष्णु का प्रसाद लेने वाले को मिल जाता है । और गरुडपुराण में "हरि का चरणामृत एवं उन्हें निवेदित हुए पदार्थ का भोजन करना चाहिए । शेष बचे हुए को मस्तक पर धारण करना चाहिए-यह वेद का अनुशासन है" यह कहा गया है । और ब्रह्माण्डपुराण में "पत्ता, पुष्प, जल, फल, पान अन्न एवं औषधि आदि जो कुछ भी आहारयोग्य है, वे अनिवेदित नहीं खाने चाहिए । निवेदित खाने वाले मनुष्य को प्रायश्चित्त करना पड़ता है अतः सर्वदा सभी कुछ विष्णु को निवेदित कर के ही खाना चाहिए" यह कहा गया है । पद्मपुराण में भी गौतम ऋषि ने "हे अम्बरीष, जो व्यक्ति अपने भोजन को प्रभु को भोग धरा कर ग्रहण नहीं करता, वह सात जन्मों तक नरक का अधोगामी बनता है । नये वस्त्र, फल, अन्न इस आदि समस्त पदार्थ विष्णु को उपभोग करा कर ही वैष्णवों की सेवा करनी चाहिए" यह कहा है ।

श्रीभागवते षष्ठस्कन्धे दितिपुंसर्वनव्रते समाप्त्यध्याये 'उद्वास्य देवं स्वे घास्त्रि तन्निवेदितमग्रतः । अद्यादात्मविशुद्धयर्थं सर्वकामाप्तये तथे'ति । तेन सिद्धमाहुः निवेदानामित्यादि, शोधकत्वाच्चेत्यन्तम् । तथा चैवं भगवद्वत्प्रसादत्वेन तन्निवेदितग्रहणस्य दासधर्मत्वे सिद्धे आज्ञसत्वमप्यथादेव सिद्धमिति न भक्तिमार्गविरुद्धस्य स्वातन्त्र्यस्यापत्तिरित्यर्थः । नचोक्तवाक्येषु 'त्वयोपभुक्ते'ति वाक्ये च अचेतनानामेव प्रसादत्वेनोपयोगस्योक्तत्वाद्द्वारादीनां विनियोगे दोषः स्यादेवेति शङ्क्यम् । पाकादिसेवायां विनियोगस्य तेषामपि सिद्धत्वेनादोषादिति । एवं चैतावता ग्रन्थेन सिद्धान्तरहस्योक्तमेव सर्वं निर्धारितं ज्ञेयम् ।

श्रीमद्-भागवत के छठे स्कंध की समाप्ति में जहाँ पुंसवनव्रत की चर्चा हुई है, वहाँ शुक्रदेवजी ने राजा परिक्षित् को "पूजा के पश्चात् भगवान को उनके धाम में पधरा दे । इसके पश्चात् आत्मशुद्धि एवं समस्त अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए उन्हें निवेदित किया हुआ प्रसाद ग्रहण करे "(६/१९/२०)" यह वाक्य कहा है । इन समस्त वाक्यों से सिद्ध होने के कारण प्रभुचरणों ने "निवेदानां..... शोधकत्वाच्च" तक की पंक्तियों में निवेदित को ही ग्रहण करना बताया है । और इन्हीं वाक्यों से यह अर्थ भी सिद्ध होता है कि, भगवान द्वारा दिया

गया पदार्थ प्रसादरूप है और उस निवेदित हुए प्रसाद को ग्रहण करने से हमारा दासधर्म भी सिद्ध होता है और ऐसा करना भगवान की ही आज्ञा है अतः न तो यह भक्तिमार्ग के विरुद्ध है और न ही यहाँ मनमानी करने का कोई प्रश्न ही है। इस संदर्भ में एक और स्पष्टता होनी आवश्यक है। उपर्युक्त विश्लेषण में यह शंका करनी उचित नहीं है कि, "आपके द्वारा उपभुक्त की गई माला पहनी, चंदन लगाया, आपके प्रसादी वस्त्र धारण करे, आपके घराए अलंकार पहने (श्री.भा. ११/६/४६)" कर दिया जाय तो इस प्रक्रिया को 'दान' कहते हैं। यदि इस प्रक्रिया के द्वारा कोई वस्तु किसी को दे दी गई हो तो निश्चितरूप इस प्रमाणवाक्य में तो केवल अचेतन वस्तुओं को ही प्रसादरूप में ग्रहण करना कहा गया है, और पत्नी-पुत्र-परिवारजन आदि तो चेतन हैं अतः उनका स्वयं के लिए उपयोग करने पर दोष तो होगा ही। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि इन समस्त परिवारजनों का, प्रभु की सामग्री सिद्ध करने में एवं अन्य सेवाओं में भगवान को विनियोग तो होता ही है अतः तत्पश्चात् यदि इनको हम हमारे उपयोग में लें तो दोष नहीं है। यह सभी कुछ सिद्धांतरहस्य में निर्धारित किया जा चुका है, यह समझ लीजिए।

किन्तु प्रभौ निवेदितार्थस्य विनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो, नवेति भवति चिन्ता । \*तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च । 'त्रैवर्गिकायासे'तिवाक्यात् भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च तत्र स्यात् । अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम् । एवंभूतान् स्वानुपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येति ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापीति ।

भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

लौकिकैतदभावेपि भगवदर्थापि सा न कार्या । एतदाहुः कापीतिशब्देन । अङ्गीकारेणैव सर्वं स्वत एव करिष्यतीति विश्वासो यतस्तस्यावश्यकः ।

तेनात्र न तदुक्तविचारचिन्तासम्भवः, किन्तु प्रकारान्तरेणेति बोधितम् । अतः परं तत्संभवप्रकारं वदन्तो ग्रन्थमवतारयन्ति किन्चित्वादि । व्याकुर्वन्ति लौकिकेत्यादि । सिद्धान्तरहस्योक्तरीत्या तन्निष्कर्षजनकपूर्वोक्तविचाररीत्या च लौकिक्याचिन्ताया अभावेपि पूर्वोक्तरीत्या भगवदर्थापि सा न कार्या । तत्र हेत्वपेक्षायां निवेदितात्मपदेन भगवानपीत्युत्तरार्थेन च सूचितं हेतुद्वयं व्याख्यानमुखेन स्फुटीकुर्वन्ति अङ्गीकारेणैवेत्यादि, आवश्यक इति । ब्रह्मास्त्रचातकन्यायादावश्यकः । एतेन निवेदितात्मपदसूचितो हेतुर्विभूतः ।

अतः वहाँ स्पष्टीकरण हो गया होने से अब ऐसी चिन्ता यहाँ नहीं हो सकता। यहाँ तो कोई दूसरे ही प्रकार की चिन्ता हो रही है, यह मालूम पड़ता है। वह चिन्ता कौन सी है? यह कहते हुए अब प्रभुचरण अपना विवरण किन्तु इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं। प्रभुचरणों ने "किन्तु" शब्द से लेकर "चिन्ता" तक की पंक्ति में यह कहा है कि प्रभु में द्रव्य का विनियोग करा देने के पश्चात् अब धन-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना या नहीं? यह चिन्ता होती है। इसी का विवरण आपश्री लौकिक इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। इस पंक्ति में प्रभुचरण यह आज्ञा करना चाह रहे हैं कि, सि. रहस्य में कही गई रीति-अनुसार एवं वहाँ जो निष्कर्ष निकाला गया है, उसका विचार करने के द्वारा लौकिक-चिन्ता भले ही न होती हो, परंतु यहाँ नवरत्न ग्रंथ में कहे गये उपदेशानुसार भगवान के लिए की जानेवाली अलौकिक-चिन्ता भी नहीं करनी चाहिए। क्यों नहीं करनी चाहिए? इस प्रश्न का उत्तर प्रभुचरणों मूल श्लोक की प्रथम पंक्ति में कहे 'निवेदितात्म' पद से एवं इसी श्लोक की दूसरी पंक्ति में कहे "भगवानपि" पद के द्वारा दो हेतुओं को बताते हुए 'निवेदितात्म' एवं 'भगवानपि' शब्दों को

\* (किंच । तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भव इत्याद्योक्तचिन्ताभावापेक्षया विचार्यते । सेवार्थं यत्नकरणे बाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिबन्धश्च न सम्भवति । तस्य सेवाङ्गत्वेन तत्पूरकत्वात् तदकरणे तत्सम्भवाच्च । नच 'त्रैवर्गिकायासे'ति वाक्यात्तत्र भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति वाच्यम् । त्रैवर्गिकपदवैयर्थ्यापत्तेः । अन्यथा आयासविघातमित्येतावतैव चारितार्थं स्यात् । अतः स्वकीयानां त्रैवर्गिकायासविघातमेव भगवान् करोति, न स्वसेवार्थकायासविघातमिति निधीयते । अन्यथा यत्नात्रस्य निषेधे भजनमार्गं एवोच्छिद्येत । नन्वात्मनिवेदिनामितरयत्नासम्भवेन तज्जनितचिन्ताऽभावात् कथं चिन्ता न कार्येत्युपदेश इति चेत् । अत्रेदं प्रतिभाति । भजनमार्गं हि भगवदङ्गीकारस्त्रियः । पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन । तत्रापि वै त्रैविध्यम् । तत्र पुष्टिपुष्टावकीकृतस्य नेतरयत्नसम्भावनापि । परं मर्यादापुष्टी प्रवाहपुष्टी चाङ्गीकृतस्य तत्करणं मर्यादाप्रवाहांशः, तद्विघातः पुष्टयंशः । तथा चात्मनिवेदिनां मर्यादाप्रवाहसंबलितानां यथेतरयन्ते कृते बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धतद्विघातादिकं भवति, तथा सेवार्थकेपि यत्ने भविष्यतीति भवति चिन्ता, अतस्तदभावात् तान् प्रति चिन्ता कापि न कार्येत्युक्तम् । अतः सेवार्थं यत्नः कर्तव्य एवेति नानुपपत्तिः काचित् ।) १. चिन्तान्तर्गतं दिव्यं पाश्चात्यं प्रभूणामिति प्रतिभाति । २. लौकिकीति पाठः ।

'अंगीकारेणैव' से 'आवश्यक' तक की पंक्ति द्वारा स्पष्ट कर रहे हैं । आवश्यक है से तात्पर्य यह है कि निवेदन कर देने के पश्चात् जीव को ब्रह्मास्त्र एवं 'चातक' वाला दृष्टांत याद रखना आवश्यक है । (ज्ञात हो कि आचार्यचरणों ने वि.घै.आ./१५ में भगवान पर अविश्वास न करने में ब्रह्मास्त्र का एवं विश्वास करने में चातकपक्षी के दृष्टांतों द्वारा समझाया है, यहाँ भी वही तात्पर्य है ।) "अंगीकारेणैव" से लेकर "आवश्यक" तक की पंक्ति में प्रभुचरणों ने आचार्यचरण द्वारा कहे "निवेदितात्म" पद से सूचित होने वाले हेतु का विवरण किया है ।

भगवतोपि तथानियमः । कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुश्रेष्ठिलम्बते, तदापि न कार्येत्याहुः कदापीति पदेन ।

द्वितीयं विवृण्वन्ति भगवतोपि तथा नियम इति । अङ्गीकृतपालननियमः । योगक्षेमवहनवाक्येनैव तथा सिद्धत्वादित्यर्थः । [ यदि तूत्तरार्थस्याग्रे व्याख्यातत्वादेतस्य पूर्वज्ञोषत्वमङ्गीक्रियते, तदास्यार्थिकत्वं ज्ञेयम् । वस्तुतस्तूत्तरार्थे व्याख्यानेपि महापुरुषेण निवेदितेन पूर्वार्थोक्ते हेतोरप्युक्तत्वात्पूर्वार्थेप्युत्तरार्थार्थाङ्गीकारो न दुष्ट इति ज्ञेयम् । ] तत्रापि विशेषं वदन्तीत्याहुः कदाचिदित्यादि । कदापीतिपदेनेति । कदाशब्दापिशब्दाभ्यां युक्तमिति पदं तेनेत्यर्थः । प्रकारद्वयान्यतरेण बिलम्बेपि चिन्ताया अकरणे एतावेव हेतु इति ज्ञापनायान्ते इतिपदोक्तिः ।

अब दूसरा हेतु भगवतोपि तथा नियमः इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । इसका अर्थ यह है कि, भगवान का भी यह नियम है कि वे अंगीकृत जीवों का पालनपोषण करते हैं । भगवद्-गीता के 'भैरे भक्तों के योगक्षेम का वहन स्वयं मैं करता हूँ (९/२२)" इस वाक्य द्वारा यही सिद्ध होता है, यह अर्थ है । (इस श्लोक के उत्तरार्थ का अर्थात् "भगवानपि.....च गतिम्" इस पंक्ति का व्याख्यान प्रभुचरणों ने यद्यपि आगे के वाक्यों में किया है अतः यहाँ कहे गये "भगवतोपि तथा नियम" इस वाक्य को आगे कहे व्याख्यान का ही अंश मान कर चलें, तो यहाँ इस व्याख्यान को (अर्थात् "भगवतोपि तथा नियमः" इस पंक्ति को) आगे कहे जानेवाले व्याख्यान का अर्थ मान कर चलना चाहिए । वास्तव में तो भले ही इस पंक्ति का व्याख्यान आगे दिया गया है परंतु वहाँ "महापुरुषेण निवेदिता" इस वाक्य के द्वारा यहाँ का हेतु भी (अर्थात् "निवेदितात्मभिः कदापि" पद का) कहा गया है अतः आगे कहे जानेवाले व्याख्यान का अर्थ पहले कह दिया गया हो तो इसमें दोष नहीं है, यह समझना चाहिए । भले ही निवेदितात्मा को प्रभु पर विश्वास रखना आवश्यक एवं भगवान भी पुष्टिमार्गस्थ हैं अतः लौकिकगति नहीं करेंगे यह बात स्पष्ट हो गयी हो तत्रापि प्रभुचरण यहाँ कुछ विशेष कहने के लिए कदाचित् इत्यादि पदों से कह रहे हैं । यहाँ कदापीति पद में 'कदा' एवं 'अपि' इन दोनों के संग 'इति' पद जुड़ा हुआ है (कदा+अपि+इति = कदापीति) । कदापि पद का तात्पर्य यह है कि 'परीक्षार्थ' एवं 'प्रारब्धभोगार्थ' इन दो हेतुओं से भी यदि प्रम फलदान करने में विलंब कर रहे हों, तो भी चिंता नहीं करनी चाहिए । यही बात बताने के लिए कदापि पद के अंत में इति पद को जोड़ा गया है ।

तथा चात्रेतिपद्युतात्पाठादुपगीतिश्छन्दः । 'आर्याद्वितीयकेर्षे यद्भदितं लक्षणं, तत्स्यात् । यद्युभयोरपि दलयोरुपगीतिं तां मुनिवृत्ते' इति वृत्तरत्नाकरे तल्लक्षणादुदाहरणाच्च । यदा च्चितिशब्दरहितः पाठः, तदा त्विचं वृत्तिगन्धिचूर्णिकिति न किमपि छन्दः । १८५ (वृत्तिगन्धिचूर्णिकालक्षणं तु छन्दोमञ्जर्यामुक्तम् । 'अपादः पदसन्तानो गद्यं तत्तु त्रिधा मतम् । चूर्णिकोत्कलिकाप्रायवृत्तिगन्धिप्रभेदतः ॥ अकठोरक्षरं स्वल्पसमासं चूर्णकं विदुः । भवत्युत्कलितप्रायं समासाढयं दृढाक्षरम् । वृत्तैकदेशसम्बन्धाद्वृत्तिगन्धि पुनः स्मृतम् ॥) तदा हेतुरर्थोक्त एव ।

अतः इस प्रकार जहाँ इस श्लोक में 'इति' शब्द जुड़ा हुआ (कदापि+इति = कदापीति) माना गया है, वहाँ 'उपगीति' छन्द मान लेना चाहिए । क्योंकि वृत्तरत्नाकरग्रंथ में उपगीति छंद का लक्षण पिंगलशास्त्र को रचना करनेवाले मुनि ने - "आर्या छंद के तीसरे एवं चौथे चरणों क्रमशः १२ एवं १५ मात्राएँ होती है । यही १२ एवं १५ मात्राएँ उपगीति छन्द के चारों चरणों में होती है"- इस वाक्य द्वारा बताया है । जहाँ इस श्लोक में 'इति' शब्द नहीं माना गया है, वहाँ इस श्लोक को 'वृत्तिगन्धि' एवं 'चूर्णिका' इन दो प्रकारों वाला गद्य मानना चाहिए । यहाँ कोई भी छन्द नहीं बनता है । (वृत्तिगन्धि एवं चूर्णिका का लक्षण तो "छन्दोमञ्जरी" में कहा गया है । वह इस प्रकार कि - चूर्णिका, उत्कलिकाप्रायं एवं वृत्तिगन्धि यों तीन प्रकार गद्य माना गया है । जिस गद्य में कठोर-अक्षर न हो एवं कम से कम समास हो, वह गद्य "चूर्णक" मानना चाहिए । जिसमें दृढ-अक्षर हो, अधिकाधिक समास हो, वह गद्य "उत्कलिकाप्राय" है । और जिस गद्य का कोई एक शब्द या कोई एक भाग किसी छंद से मेल खाता हो परंतु अन्य कोई दूसरा भाग मेल न खाए, तो उस गद्य को 'वृत्तिगन्धि' समझना चाहिए) अतः "इति" शब्द न माना जाय तो यह उपगीति छंद नहीं बनता है और तब "इति" शब्द से कहे जानेवाले हेतु का ही अर्थ यहाँ ग्रहण करना चाहिए ।

ननु लोकवत् कुटुम्बाद्यासक्त्या स्वस्यापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्, तत्राहुः भगवानपीति । यतः पुष्टिस्थोऽतो मर्यादामार्गीयवैराग्याद्यभावेपि 'महापुरुषेण निवेदिता' इति स्वकीयत्वेनाङ्गीकारात् तथा न करिष्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

ननु सत्यं भगवान् स्वाज्ञाकारित्वं जीवेऽवलोक्यापेक्षितपूर्णेन योगक्षेमं भगवदर्थं लौकिकार्थं च निर्वाहयति, तथापि प्रथमं जघन्याधिकारे भगवांस्तथा निर्वाहयेन्नवेतिचिन्ता स्यादेवेत्याशङ्कं समादधते इत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति ननु लोकवदित्यादि । स्वस्यापीत्यनेन भगवान् परामृश्यते । गतिमिति । रीतिम् । तथा च यथा लौकिकाः प्रभवः सेवकस्य कुटुम्बाद्यासक्तिं दृष्ट्वा तत्कार्ये उदासते, तथा भगवानप्युदासीत, तदा किं कुर्यादित्यर्थः । व्याकुर्वन्ति यत् इत्यादि । यतोऽयं जीवः पुष्टिस्यः भक्तिमार्गीयत्वाद्भक्तिकारणीभूतानुग्रहविषयोऽत एतस्मिन् मर्यादामार्गीयवैराग्याद्यभावेपि महापुरुषेणैतत्सम्बन्धिनः सर्वेपि निवेदिता इति तेष्वसक्तावलौकिको भगवान् यथा नारदवाक्यसत्यत्वाय नलकूबरमणिग्रीवावनुजग्राहेति दृष्टत्वात्, 'स्वयं समुत्तीर्ये'ति गर्भस्तुतिवाक्ये भक्तिमार्गप्रवर्तकाचार्यानुगृहीतेषु भगवदनुग्रहस्य सिद्धत्वाच्च, स्वाभीष्टमार्गप्रवर्तकाचार्यनिवेदितेषु स्वकीयत्वेनाङ्गीकारादुपेक्षां न करिष्यतीति भगवत्त्वभावं निश्चित्य, 'संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभि'रितिन्यायेन क्लेशे स्वप्रारब्धस्य हेतुतां चानुसन्धाय चिन्ता न कार्या ।

चलिए मान लें कि भगवान जीव में स्वयं के लिए आज्ञाकारिता को देखकर उसे अपेक्षित वस्तुओं की पूर्ति के द्वारा भगवान के लिए किए गये एवं लौकिक के लिए किए गये उसके योगक्षेम का निर्वाह स्वयं करते हैं, तथापि पहले जघन्याधिकार के समय "भगवान इनका निर्वाह करेंगे या नहीं ?" इस प्रकार की चिन्ता तो होती ही है । अतः इस शंका का समाधान करने के आशय से प्रभुचरण मूल श्लोक की दूसरी पंक्ति का आरंभ ननु लोकवत् इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं । 'स्वस्यापि' शब्द से आगे कही जानेवाली समस्या के निदान के लिए भगवान का परामर्श दिया जा रहा है । (अर्थात् ननु.....इति इस पंक्ति में लौकिकगति हो जाने की समस्या बताई गई है, उसका समाधान मूल श्लोक के दूसरी पंक्ति में आए 'भगवान' शब्द से दिया जा रहा है, यह अर्थ है) 'गति' शब्द का अर्थ है 'रीति' । इस प्रकार से इस पंक्ति का भाव यह है कि, जैसे लौकिक में कोई स्वामी अपने सेवक की आसक्ति स्वयं में न होकर उसके कुटुंब-आदि में देखकर उसके कार्यों के प्रति उदासीन हो जाता है, वैसे मेरी भी लौकिक कुटुंब-आदि में आसक्ति देखकर यदि भगवान मुझसे उदासीन हो जाएँ तब क्या करना ? यह अर्थ है । इस समस्या का समाधान प्रभुचरण यतः इत्यादि शब्दों के द्वारा कर रहे हैं। इस पंक्ति का भाव यह है कि, चूँकि जीव पुष्टिमार्ग में शरणागत हुआ है, भक्तिमार्गीय है अतः भक्ति के मूलकारण अनुग्रह का वह पात्र है, इस कारण उसमें मर्यादामार्गीय वैराग्य-आदि का अभाव भी हो तथापि "महापुरुष-श्रीमहाप्रभु से संबंधित इन जीवों ने सभी कुछ निवेदित किया है" यह जानकर अलौकिक भगवान उनमें आसक्त होकर उन पर ठीक उसी तरह अनुग्रह करेंगे जैसे उन्होंने नारदजी के वाक्य को सत्य करने के लिए नलकूबर और मणिग्रीव पर अनुग्रह किया था । और भी, 'आपके भक्त' दुस्तर संसारसागर को स्वयं पार कर जाते हैं (श्री.भा. १०/२/३)" इस गर्भस्तुति के वाक्य में जैसे भक्तिमार्ग के प्रवर्तक आचार्यचरणों द्वारा अनुग्रहीत जीवों पर भगवद्-अनुग्रह सिद्ध है, उसी प्रकार स्वयं भगवान को जैसा मार्ग चाहिए था, वैसे मार्ग के प्रवर्तक आचार्यचरणों के माध्यम से निवेदित हुए जीवों को स्वीयजनों के रूप में अंगीकार किया होने के कारण भगवान उनकी उपेक्षा नहीं करेंगे-ऐसा भगवान का स्वभाव मन में निश्चित् करके 'हे प्रभु । अपने कर्मों से संसारचक्र में फँसे हुए लोगों से मेरा संबंध न हो (श्री.भा. ६/११/२७)" इस श्लोक में कहे भाव के अनुसार दुःख में भी स्वयं के प्रारब्ध को कारण मानते हुए चिन्ता नहीं करनी चाहिए ।

एवं यथा वित्तजायां न कार्या, तथा तनुजायां शरीरसहायसौकर्याभावेपि न कार्येति बोध्यम् । अत्र दिङ्मात्रस्य प्रदर्शनादिति । लौकिकीं चेति मूले चकारोवधारणार्थः क्रिययान्वेति । समुच्चयार्थत्वे त्वनुक्तां वैदिकीं गतिं समुच्चिनोति । यथा हि चाक्रायणस्यापद्रताविभ्यस्वादितकुल्माषभक्षणं श्रूयते, तथात्र भक्तिमार्गीये क्वाप्यश्रवणादस्मरणात् योगक्षेमप्रवहणवाक्याच्च । इदं च 'सर्वाच्चानुमति'सूत्रे स्थितम् ॥ १ ॥

इस प्रकार जैसे वित्तजासेवा में धन की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, उसी प्रकार तनुजासेवा में भी शरीर के सहायक साधनों की अनुकूलता न होने पर भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, यह समझना चाहिए । यहाँ "शरीर के सहायक साधनों की अनुकूलता न होने पर भी चिन्ता नहीं करनी", "धन की चिन्ता नहीं करनी" इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रभुचरणों ने चिन्ता न करने के संदर्भ में एक दिशा मात्र बता

दी है, वास्तव में तो जीवनयापन करने में ऐसी अनेकों प्रकार की चिंताएँ हो सकती हैं, वे सभी चिंताएँ नहीं करनी चाहिए, यह बात समझ लेनी चाहिए। मूल पंक्ति में आए 'लौकिकी च' पद में 'च' का अर्थ 'करिष्यति' इस क्रियापद के साथ जोड़ कर समझना चाहिए। ऐसा करने पर अर्थ यह बनेगा कि - प्रभु वैदिकगति तो नहीं करेंगे और लौकिक गति भी नहीं करेंगे। 'च' शब्द भगवान लौकिकगति कभी नहीं करेंगे इस वाक्य को भलीभाँति समझने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ समुच्चय-अर्थ (मिलाजुला अर्थ) कहने में 'च' पद का प्रयोग समझे तो लौकिकगति के साथ-साथ वैदिकीगति भी समाहित हो जाती है अर्थात् प्रभु न तो हमारी लौकिकगति करेंगे न वैदिकी। वे हमारी अलौकिक गति करेंगे, यह अर्थ है। इसे यों समझे कि जैसे छान्दोग्योपनिषत् (१-१०-१) में उल्लेख आता है कि, एक बार चाक्रायण ने किसी आपत्तिकाल में किसी महावत के झूठे उड़द खा लिये थे (देखें छान्दो. १-१०-१ जहाँ उपस्ति नाम के एक विद्वान् ब्राह्मण पर ऐसी विपदा आई, जहाँ उन्हें भूखों मरने की नौबत आने पर महावत के झूठे उड़द खाने पड़े) वैसे ही यहाँ भक्तिमार्ग के किसी अनुयायी ने ऐसा किया हो, या फिर किसी भक्त पर ऐसी विपदा आयी हो, ऐसा कहीं सुना नहीं गया है और ऐसा स्मरण भी नहीं होता क्योंकि भक्तिमार्ग में तो भगवान ने ही भक्तों के योगक्षेम का वहन करने की प्रतिज्ञा कर रखी है। इस विषय को ब्रह्मसूत्र में 'सर्वान्ानुमति' (३-४-२८) इस सूत्र द्वारा विस्तार से बताया गया है।

एवं चेत्, स्वाच्छन्द्यव्यवहारापत्त्या बाहिर्मुख्यं स्यादत आहुः निवेदनमिति ।

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः ।

अतः परमत्र दोषोपस्थितिमाशङ्क्य परिहरन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति एवं चेदित्यादि । कुटुम्बाद्यासक्तावपि भगवानुपेक्षां न कुर्याच्चेत्, तदा नैवेद्यादिसम्पादनार्थं यत्न एव कर्तव्यः, किमर्थं क्लेशः सोढव्य इत्यादिविचारेण स्वच्छन्द्यव्यवहारापत्त्या नानाविधं बाहिर्मुख्यं स्यात् । अत एतादृशे संकटे उपायमाहुरित्यर्थः । व्याकुर्वन्ति सर्वदित्यादि । आत्मनिवेदनं हि सेवाधिकारार्थं संस्काररूपतया भगवतोऽभिप्रेतमिति पूर्वमुपपादितम् । तथा च तदुत्तरं सर्वदा सेवाया एव करणात्सर्वांशे स्वस्य सपरिकरस्य सर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धाने बाहिर्मुख्यं न भविष्यतीति भाव इत्यर्थः ।

इसके पश्चात्, इस प्रकार सभी कुछ भगवान द्वारा ही करने से जीव में स्वच्छंद व्यवहार का दोष उपस्थित हो जाता है अतः इस समाधान का परिहार करने के लिए प्रभुचरण एवं चेत् इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं। इस पंक्ति का भाव यह है कि, यदि जीव की कुटुंब-आदि में आसक्ति होने पर भगवान उसकी उपेक्षा नहीं करते हैं, तब फिर भगवान के निवेदन करने में आवश्यक सामग्रियों का जुगाड़ करने का यत्न तो करना ही चाहिए, व्यर्थ में क्यों दुःख सहन करना ? इस प्रकार के विचार द्वारा जीव में स्वच्छंद व्यवहार आ जाने की आपत्ति आ पड़ती है और इससे वह अनेक प्रकार से बहिर्मुख हो सकता है। अतः इस प्रकार का संकट आने पर प्रभुचरण अब उसका उपाय सर्वदा इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं। समझना चाहिए कि, 'आत्मनिवेदन' की प्रक्रिया भगवत्सेवा का अधिकार प्राप्त करने के लिए एक संस्काररूप से की जाय तो वह भगवान को संमत है। और आत्मनिवेदन करने के पश्चात् सर्वदा सेवा ही करने से स्वयं में एवं परिवारजनों में सर्वांश में भगवदीयता का ही अनुसंधान करने से बहिर्मुखता नहीं होगी, यह भाव है।

अज्ञात्त्या सेवाद्यसम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः। चकारपक्षे समुच्चयः । सर्वथेत्यस्यावश्यकत्वज्ञापनाय ।

नन्वत्र तुशब्देन निवेदनस्मरणस्यैव तथात्वं बोध्यत इति कथं तथा व्याख्यायते इत्याकाङ्क्षायां तुशब्दात्पर्यमाहुः अज्ञात्त्येत्यादि । तथा च अनुकल्पत्वबोधनाय तुशब्द इति न पूर्वव्याख्याने दोष इत्यर्थः । एतदेव दृढीकर्तुं पाठान्तरं विवृण्वन्ति चकारेत्यादि । सर्वथेति पदं व्याकुर्वन्ति सर्वथेत्यादि । अस्येति । निवेदनस्य ।

किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि मूलकारिका में "निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा (निवेदन का तो सर्वथा स्मरण करते रहना चाहिए)" इस वाक्य द्वारा ही यह बोधित हो जाता है कि निवेदन का स्मरण करते रहने से सर्वत्र भगवदीयता का अनुसंधान रहेगा एवं बहिर्मुखता नहीं होगी। तब फिर प्रभुचरणों ने जो 'इति चेत्.....इति' इस वाक्य के द्वारा स्वच्छंद-व्यवहार एवं बहिर्मुखता की आशंका प्रकट

की है, वह किसलिए ? तो शंका का उत्तर हमें उनके 'अशक्त्या' इत्यादि शब्दों से प्राप्त हो जाता है, जहाँ वे मूल कारिका में आए 'तु' शब्द का तात्पर्य समझा रहे हैं। और वह तात्पर्य यह है कि भगवत्सेवा किसी कारण से न निभ सके तो अनुकल्पतया कम से कम निवेदन का स्मरण तो करते ही रहना चाहिए। अतः प्रभुचरणों द्वारा पूर्व में उठाई गई आशंका में कोई दोष नहीं है, यह अर्थ है। और जहाँ पाठभेद से 'तु' के स्थान पर 'च' पाठ माना गया है, वहाँ भी वे इसी अर्थ को दृढ़ रहे हैं। इसके पश्चात् प्रभुचरण अब मूलकारिका के 'सर्वथा' पद की व्याख्या 'सर्वथा' इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं। इस पंक्ति में आए 'अस्य' पद का अर्थ है - 'निवेदनस्य' (अर्थात् 'निवेदन का')।

अथवा। सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा। एतेन सङ्गदोषो निवारितः। अतादृशेष्वेतद्गोपनं सूच्यते। सर्वदितिपाठे कालापरिच्छेदस्तत्रोच्यते। अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति भावः। कदाचिदलौकिककार्यस्य लौकिकस्य वा सिद्धयर्थं प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेत्याहुः सर्वेश्वर इति। अत्र सर्वशब्दो निवेदितात्मसर्वपरः। यथा 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्र निमन्त्रिता एव सर्वपदेनोच्यन्ते, न त्वन्येपि। सर्वात्मपदेष्वेवं ज्ञेयम्। तेन सेवकाः 'सर्वे' यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गीकृतस्वामित्व आत्मियत्वमेव तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते। अथवा। कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं कालादिपरम्। प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय निजेच्छेत्युक्तम्। अथवा। निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रचुरेच्छातः स्वयमेवापेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः।

ननु मुख्याशक्तावनुकल्पत्वादेवावश्यकत्वप्राप्तेर्नेदं व्याख्यानं युक्तमित्यरुच्या पञ्चान्तरमाहुः अथवेत्यादि, सूच्यत इत्यन्तम्। अस्मिन् पक्षे सर्वथातादृशैरित्येकं पदम्। पाठान्तरं व्याकुर्वन्ति सर्वदित्यादि। तत्रेति। निवेदनस्मरणे। एवं व्याख्यानद्वयेन सर्वदा भगवदीयत्वानुसन्धानमुत्तमभगवदीयसङ्गेन दुःसङ्गवर्जनं दुष्टेष्वेतद्गोपनं चेति त्रयमुक्तम्। तथा च सर्वदैतत्करणे पूर्वोक्तदोषस्य न संसर्ग इत्यर्थः। अतः परं प्रारब्धेनातिक्लेशप्राप्तौ पूर्वोक्तत्रयस्यान्यतरस्य वाऽसम्भवे प्रभोश्च सानुभावतायां क्लेशानिवृत्त्यर्थं तत्प्रार्थनं कार्यं नवेति चिन्तायामुपायान्तरं वदन्तीत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति कदाचिदित्यादि। अर्थस्त्वतिरोहितः। प्रश्ने इति सप्तमी। व्याकुर्वन्ति अत्र सर्वेत्यादि। अस्मिन् पक्षे सर्वपदस्य वृत्तिसंकोच इत्यरुच्या पञ्चान्तरमाहुः अथवा कालेत्यादि। निजेच्छात इति व्याकुर्वन्ति प्रार्थित इत्यादि। अस्मिन् पक्षे भगवतः कृपालुत्वं तिर इव भवतीत्यतः पञ्चान्तरमाहुः अथवा निजा इत्यादि।

किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि उपर्युक्त 'निवेदन का स्मरण' तो वैकल्पिक व्यवस्था है अतः यह सिद्ध हो रहा है कि जब भगवत्सेवा न निभ सके तब ही लाचार होकर निवेदन का स्मरण करना चाहिए, यदि भगवत्सेवा निभ पा रही हो तो निवेदन का स्मरण आवश्यक नहीं है। कोई कहीं इस प्रकार का अर्थघटन न कर ले, अतः प्रभुचरण अब इन्हीं पंक्तियों का दूसरा अर्थ 'अथवा' से लेकर 'सूच्यते' तक के शब्दों द्वारा कर रहे हैं। अब इस अर्थ में वे कहते हैं कि 'सर्वथा' पद को 'तादृशीः' पद के साथ जोड़कर अर्थ करना चाहिए। ऐसा करने पर अर्थ यह बनेगा कि-जो सर्वथा तादृशीजन हैं, उनके संग निवेदन का स्मरण करते रहना चाहिए। जहाँ 'सर्वथा' के स्थान पर 'सर्वदा' पाठ माना गया है, वहाँ इस पंक्ति का अर्थ यह बनेगा कि - तादृशीजनों के संग सर्वदा निवेदन का स्मरण करते रहना चाहिए। और इस पंक्ति में प्रयुक्त 'तत्र' शब्द का अर्थ "निवेदन का स्मरण" इस प्रकार से है। इस प्रकार से प्रभुचरणों ने दोनों प्रकार के अर्थों के व्याख्यान द्वारा-सर्वदा भगवदीयता का अनुसंधान, उत्तम भगवदीयों के संग द्वारा दुःसंग का त्याग एवं दुष्टों से अपने भगवद्-भावों को छुपा कर रखना-यों तीन बातें कही हैं। और इस तरह सर्वदा उपर्युक्त प्रकार से करने पर पूर्व में कहा बहिर्मुखता का दोष नहीं होता है, यह अर्थ है। अब इसके पश्चात् यदि भाग्य से अतिक्लेश प्राप्त हो जाय और उपर कहे ये तीन उपदेश पालन करने असंभव हो जाएँ अथवा तो अन्य इस प्रकार के दृढ़ आश्रय रखने के उपदेश भी पालन करने असंभव हो जाएँ, तब ऐसी परिस्थिति में मान लें कि प्रभु सानुभाव जताते हों तो उनसे इन क्लेशों की निवृत्ति के लिए प्रार्थना करनी या नहीं? ऐसी चिन्ता होने पर दूसरे उपाय को कहने के लिए प्रभुचरण मूलश्लोक की दूसरी पंक्ति का विवरण 'कदाचित्' इन शब्दों से आरंभ कर रहे हैं। इस पंक्ति का अर्थ तो स्पष्ट ही है। 'प्रश्ने' पद में सप्तमीविभक्ति का प्रयोग है। अब यहाँ 'अत्र सर्व' इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। चूँकि इस पंक्ति में प्रभुचरणों को लगा कि 'सर्व' को केवल आत्मनिवेदियों के अर्थ में घटा कर इसका कुछ संकुचित-अर्थ हो गया है अतः अब वे 'अथवा काल' इत्यादि शब्दों से दूसरा अर्थ कर रहे हैं। इसके पश्चात् वे मूलश्लोक में आए 'निजेच्छातः' शब्द की व्याख्या 'प्रार्थितः' इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। प्रभुचरणों ने जहाँ इस पंक्ति

का अर्थ किया है, उसमें प्रभु की कृपालुता कुछ छुपी हुई सी प्रतीत होती है। (यहाँ टीकाकार यह कहना चाहते हैं कि प्रभुचरणों ने 'निजेच्छातः करिष्यति' पद के दो अर्थ किए हैं। एक तो स्वयं भगवान की जो इच्छा है, वह निजेच्छा है एवं दूसरा अर्थ यह कि, निजजनों की जो इच्छा है, वह निजेच्छा है। तो यहाँ टीकाकार पहले अर्थ में यह कहना चाह रहे हैं कि कदाचित् प्रभुचरणों को यह प्रतीत हुआ होगा कि इस अर्थ में प्रभु का कृपालु-स्वभाव कुछ आहत हो रहा है। क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर यह प्रतीत हो रहा है कि भक्त चाहे सुखी हो या दुःखी, प्रभु तो वही करेंगे जो उन्होंने सोच रखा है। तो यह बात उनके दयालु-स्वभाव से विपरीत जा रही है। टीकाकार प्रभुचरणों के मनोविचार का ऐसा अनुमान लगाकर यह कहना चाह रहे हैं कि कदाचित् इसी कारण से उन्होंने इस शब्द का दूसरा अर्थ भी किया होगा, यह अर्थ है।) अतः वे 'अथवा निजा' इत्यादि शब्दों से दूसरा अर्थ कर रहे हैं।

परन्विच्छाया अविकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञापनायाव्ययप्रयोगः ॥ २ ॥

नन्वेवं सति पूर्वं कुतोऽन्यथा व्याख्यातमित्यत आहुः परमित्यादि । अविकृतत्वमिति । विकृतत्वं प्राकृतगुणसोभकृतलौकिकविषयत्वम्, तद्विलक्षणत्वमविकृतत्वम् । तथा च जघन्याधिकारिणामिच्छाया विकृतत्वात्तदर्थं तथा पूर्वं व्याख्यातम् । उत्तमाधिकारिणां त्विच्छाया अविकृतत्वादिदानीमेवं व्याख्यातम् । अतो व्याख्यानद्वयमप्युचितमेव । अत्रायमर्थः । प्रार्थना हि प्रभोरसर्वज्ञत्वे उदासीनत्वे वाऽन्यत्वे वा उपयुज्यते । अत्र च स्वकीयसर्वेश्वरत्वात्कालादिसर्वनियामकत्वाच्च नासर्वज्ञत्वम् । नियमनस्य ज्ञानकार्यत्वात् । तत्तदात्मत्वाच्च नोदासीनत्वम् । स्वात्मत्वान्नान्यत्वम् ।

किंतु तब भी किसी पूर्वपक्षी को यह शंका हो सकती है कि यदि 'निजा' शब्द का अर्थ निजजनों की इच्छा इसी प्रकार से ठीक था, तो फिर पहला अर्थ किया ही क्यों ? तो इसका समाधान प्रभुचरण 'परम्' इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं। यह समाधान उन्होंने 'परम्' से लेकर 'प्रयोगः' तक की पंक्ति में दिया है। इस समाधान में उन्होंने यह कहा है कि 'निज' शब्द का अर्थ 'निजजनों की ईच्छा' इस प्रकार से करने में भक्त द्वारा भगवान से विकृत-इच्छा की माँग कर बैठने का भी अदेशा था। 'अविकृतत्वम्' शब्द का अर्थ यह है कि, लौकिकविषयों में जब प्राकृत गुणों की अर्थात् सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की मिलावट हो जाय, तो उसे 'विकृति' या 'विकार' कहते हैं। जहाँ इनसे विपरीत हो अर्थात् विषयों में इन प्राकृतगुणों की मिलावट न होती हो, वह 'अविकृत' है। अतः इस प्रकार, चूँकि जघन्य-अधिकारियों की इच्छाएँ विकृत होती हैं, इस कारण से प्रभुचरणों ने पहले वाला अर्थ भी किया है। और उत्तमाधिकारियों की इच्छाएँ तो अविकृत होती हैं अतः उनके लिए दूसरा अर्थ किया है। अर्थात् "निजानम् इच्छा इति निजेच्छा = अपने निजजनों की इच्छानुसार ही प्रभु सभी कुछ करेंगे" ऐसा अर्थ प्रभुचरणों ने किया है। इस कारण से ये दोनों अर्थ उचित ही हैं। इन व्याख्यानों का गूढ अर्थ यह है कि, प्रार्थना करनी तो तब उपयुक्त है जब प्रभु सर्वज्ञ न हों, उदासीन हों, या अन्य ही कुछ हों। यहाँ तो वे चूँकि स्वकीयों के सर्वेश्वर हैं एवं कालादि सभी के नियामक हैं अतः सर्वज्ञ हैं। क्योंकि सर्वज्ञता के बिना तो पूरे संसार का नियमन करना संभव ही नहीं है। उन सभी के आत्मा होने के कारण वे उदासीन भी नहीं हैं। स्वयं सभी के आत्मारूप होने के कारण भक्तों से भिन्न भी नहीं हैं।

एवं सत्यपि यत् स्वीयश्लेषोपेक्षणम्, तत्किञ्चिदासत्तौ भगवानेवेति न्यायेन स्वस्य भक्तस्य वा कार्यायैव । तत्र भगवत्कार्यार्थत्वे स्वस्यान्यथाप्रार्थनमपराधावहम् । भक्तकार्यार्थत्वे स्वस्यैवानिष्टोत्पादकम् । अत एतदुभयं विचार्य प्रार्थना न कार्या, किन्तु स्वस्वाधिकारानुसारेण विवेकधैर्ये एव रक्षणीये इत्यर्थः । अत एव विवेकधैर्याश्रयेऽपि प्रार्थिते वा ततः किं स्यात् स्वाम्यभिप्रायसंशयादित्युक्तम् ॥ २ ॥

इतना होने पर भी यदि वे स्वीयों के क्लेश की उपेक्षा करते हैं, तो वहाँ "जीव को लौकिक में आसक्त देखकर भगवान कमी उसे शाप भी दे देते हैं परंतु वह शाप भी उसे पुनश्च पुष्टिमार्ग में वापस खींचने के लिए देते हैं (पु.प्र.म./१८)" इस पंक्ति के द्वारा यह समझना चाहिए कि स्वयं के किसी कार्य अथवा तो भक्त के ही किसी कार्य को करने के लिए वे ऐसा करते हैं। ऐसे में जहाँ कोई भगवत्कार्य हो रहा हो एवं आप उससे विपरीत किसी अन्य कार्य की प्रार्थना करने लगे, तो अपराध होता है। क्योंकि भक्त यदि खुद अपने किसी कार्य के लिए प्रभु से प्रार्थना करे, तो वह उसके अनिष्ट का कारण होती है। अतः इन दोनों पक्षों का विचार करके प्रार्थना नहीं करनी चाहिए किंतु अपने-अपने अधिकार के अनुसार 'विवेक' एवं 'धैर्य' के सहित रहना चाहिए, यह अर्थ है। इसी कारण विवेकधैर्याश्रयग्रंथ में भी "भगवान के अभिप्राय को समझना कठिन होने के कारण प्रार्थना नहीं करनी चाहिए (वि.धै.आ./२)" यह कहा गया है ॥२॥



ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते, तत्राहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

स्वात्मना सह यावन्तो निवेदितास्तैः सहैव स्वस्याङ्गीकारात् तेषां सर्वेषामेव प्रभुसम्बन्धो, न तु प्राधान्यात् स्वस्यैवेति तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः ।

ननु पूर्वोक्ते विचार्यमाणे लौकिकालौकिकी सेवोपकरणविषयिणी चिन्ता न भविष्यति, तथापि वक्ष्यमाणरीत्या सेवाऽकरणविषयिणी धर्महानिचिन्ता तु भविष्यत्येवेति तन्निवृत्त्यर्थमग्रिमं वदन्तीत्याशयेन तृतीयं श्लोकमवतारयन्ति ननु भगवत इत्यादि । स्वधर्महानिचिन्ता बाधत इति । स्वयं हि समर्पणक्रियायां कर्तृत्वेन प्रविष्ट इति समर्प्यान्तरापेक्षया मुख्यश्चेतनश्चेति अचेतनस्य स्वाधिष्ठितस्य देहादेः सदा भगवत्येव विनियोगः कर्तव्यः, तत्र च शरीरादिकं मुख्यम्, तेन सेवां चेन्न सर्वदा कुर्यात्, तदा तस्य स्वधर्मो हीयेतेति सा तथेत्यर्थः । व्याकुर्वन्ति स्वात्मनेत्यादि । तत्रोपयोग इति । स्त्रीपुत्रादिषु स्वदेहेन्द्रियविनियोगे । शेषोऽर्थस्तु स्पष्टः ।

अब यहाँ यह शंका होती है कि पूर्व में दिए गये विश्लेषणों का विचार करने पर सेवा में उपयोग किए जाने वाले लौकिक-अलौकिक उपकरणों (साधनों) की चिन्ता तो नहीं होगी परंतु कही गई रीति से यदि सेवा न की जा सके तो अपनी धर्महानि की चिन्ता तो होती ही है अतः उसे निवृत्त करने के लिए प्रभुचरण तृतीय श्लोक का विवरण 'ननु भगवते' इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । अब हम इस पंक्ति में आए "स्वधर्महानिचिन्ता बाधते" इन शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । यहाँ यह समझना है कि जीव खुद कर्ता के ढंग से समर्पणक्रिया में प्रविष्ट हुआ है अतः उसके अपने संग समर्पित होने वाली समस्त वस्तुओं की अपेक्षा समर्पण में उसकी ही मुख्यता है और वही चेतन है अतः अपने अधिष्ठित अचेतन देह-आदि का सदा उसे भगवान में विनियोग कराना चाहिए । परंतु इन सभी में शरीर-आदि मुख्य हैं और यदि उस शरीर से सर्वदा सेवा न करें, तो उसका स्वधर्म भंग होता है अतः उसे अपने स्वधर्महानि की चिन्ता बाधित करती है । इसी शंका का समाधान 'स्वात्मना' इन शब्दों से प्रभुचरण कर रहे हैं । इस पंक्ति में 'तत्रोपयोगे' इत्यादि शब्दों का अर्थ है - स्त्रीपुत्र आदि में स्वयं के देहेंद्रिय का विनियोग होने पर स्वधर्महानि की चिन्ता नहीं करनी चाहिए । शेष पंक्ति का अर्थ तो स्पष्ट ही है ।

तथा च यद्यपि समर्पणक्रियोत्पत्तिदशायां स्वस्य प्राधान्यम्, तथापि तदुत्तरदशायां स्वस्याप्यन्यतुल्यत्वात् यथा अचेतनानां वस्त्रादीनां भगवत्युपयोक्ष्यमाणानां परस्परं विनियोगे चिन्ताया अयोगः, तथा चेतनाधिष्ठितानां स्वशरीरादीनामप्यचेतनानां परस्परं विनियोगे चिन्ताया अयोगः । भगवत्युपयोक्ष्यमाणत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । तत्र स्वत्वाभिमानं न्यग्भाव्य भगवदीयत्वेऽनुसंहिते स्वधर्महान्यभावात् का चिन्ता, न कापीत्यर्थः ।

यद्यपि समर्पण करने की प्रक्रिया में सर्वप्रथम तो स्वयं की ही प्रधानता है तथापि बाद में तो हम और हमारे संग समर्पित हुए स्त्री-पुत्र-घर आदि समस्त एक समान हो जाते हैं । अतः यह समझे कि, जैसे भगवान में उपयोग किए जाने वाले अचेतन वस्त्र-आभूषण इत्यादि यदि आपस में एकमेक हो जाते हों, तो हम चिन्ता नहीं करते, वैसे ही हमारे अधिष्ठित हमारे अचेतन शरीर का भी आपस में एकदूसरे से मेलजोल होता हो तो चिन्ता नहीं करनी चाहिए । क्योंकि भगवान के उपयोग में तो जो आनेवाला है, वह चेतन हो या अचेतन, एक समान ही है । वहाँ स्वत्व का अभिमान नष्ट करके भगवदीयता का अनुसंधान करने पर स्वधर्म की हानि नहीं होती है अतः फिर कैसी चिन्ता ? कुछ भी नहीं, यह अर्थ है ।

इयं निवेदनेऽङ्गीकारमयदित्याहुः स्थितिरिति । कस्यचिद्विशेषतोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टिरिति भावः । अथवा । पुत्रादीनामन्यविनियोगदर्शनेऽपि स्वस्य का चिन्ता, तेषामप्यङ्गीकारेणैव कृतार्थतासम्भवादित्यर्थः ।

ननु निवेदनेन सर्वेषां भगवदीयत्वरूपे सम्बन्धे तुल्येऽपि कस्यचिद्विशेषतः सेवायां विनियोगो दृश्यते, कस्यचित् स्वल्पः, कस्यचित्, तत्र हेत्वज्ञाने तु चिन्ता स्यादेवेति तस्याः कथं निवृत्तिरित्यतस्तन्निवृत्तिप्रकारं स्थितिपदेन वदन्तीत्याहुः इयमित्यादि । तथा च तत्र पुष्टि

कारणत्वेनावधार्य चिन्ता न कार्या, किन्तु 'गन्धेऽर्चिते तुलसिकाभरणे'ति न्यायेन सन्तोषो विधेय इति सुखेन तन्निवृत्तिः । एकत्र विशेषदर्शनेऽप्यन्यत्र निवेदनकृतभगवत्सम्बन्धस्यानपायान्न कापि चिन्तेत्यर्थः ।

अब यहाँ यह शंका होती है कि, वैसे तो निवेदन द्वारा सभी की भगवदीयता समानरूप से ही हो जाती है तथापि भगवत्सेवा में किसी का विशेषरूप से विनियोग दिखाई देता है, किसी का अल्पमात्रा में, तो किसी का दिखाई ही नहीं देता ? ऐसा क्यों होता है, इसका कारण ज्ञात न होने से चिन्ता तो होती ही है अतः इस चिन्ता की निवृत्ति कैसे हो ? तो इसकी निवृत्ति का प्रकार प्रभुचरण मूल कारिका में आए 'स्थितिः' पद का विवरण करते हुए 'इयम्' इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । इस पंक्ति में उन्होंने इसका समाधान करते हुए यह कहा है कि, यदि इस प्रकार से भिन्नता दिखाई पड़ती हो, तो इसमें मूलकारण 'पुष्टि' ही है, यह विचार कर चिन्ता नहीं करनी चाहिए । (समझना चाहिए कि 'पुष्टि' के भी कई भेद हैं अतः जहाँ विशेष विनियोग होता दिखाई पड़े, वहाँ उत्तमपुष्टि जाननी चाहिए । इसी प्रकार अल्पविनियोग होता हो, या विनियोग ही न होता हो वहाँ मर्यादापुष्टि जान लेनी चाहिए, यह अर्थ है ।) किन्तु 'अनेक प्रकार के पुष्प सुगंधयुक्त होकर भी तुलसी का मान करते हैं (श्री.भा.३/१५/१९) इस वाक्य में कहे भाव के अनुसार संतोष मान कर रहना चाहिए । इस तरह सुखपूर्वक उन चिन्ताओं की निवृत्ति हो जायेगी । भले ही किसी एक स्थान पर भगवान की विशेषकृपा दिखाई देती हो तथापि निवेदन के द्वारा अन्यो का भी जो भगवत्संबंध स्थापित हुआ है, वह नष्ट नहीं हो सकता अतः कोई भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए ।

एवञ्चात्र वाक्यद्वयं प्रतिभाति, सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकं न गुणप्रधानभावेन, अतस्तेषामन्यविनियोगे स्वस्य का चिन्तेत्येकम्; इति उक्तरूपा, स्थितिः निवेदनेऽङ्गीकारमर्यादा, इतो विलक्षणता तु पुष्टिः, अतः कस्यचिद्विशेषाङ्गीकारेऽपि चिन्ता केत्यपरम् । अत्राग्रिमवाक्ये स्वस्येति चेतनपरामर्शकपददर्शनात् पूर्ववाक्येपि सर्वेषामितिपदेन शरीराधिष्ठातृणामेव परामर्शो युक्तः, न तु चेतनाचेतनानां यावतामिति पूर्वव्याख्यानमयुक्तम् । किञ्च, भगवति समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगे स्वधर्महानिस्तदा स्यात्, यदि तेषां समर्पितत्वं न स्यात्, समर्पितेषु विनियोगे तु 'निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्या'दितिवाक्ये निवेदिनां समर्पणस्य कथनेन तस्य च समर्पणस्य निवेदिनां परस्परविनियोग एव सम्भवेन भक्तिमार्गमर्यादाबोधकादुक्तवाक्यादेव चिन्तोदयस्यासम्भव इति चारुच्या पद्धान्तरेण व्याकुर्वन्ति अथवा पुत्रेत्यादि । तथा च सेवासम्बन्धिनां चेतनानां निवेदितव्यतिरिक्तसंसर्गविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्यर्थमयमुपदेशः ।

अब यहाँ दो प्रकार के वाक्य प्रतिभासित हैं । पहला यह कि - "जीव द्वारा निवेदन करते समय उसका एवं उससे संबंधित सभी का एक संग प्रभु से संबंध स्थापित होता है, प्रत्येक का अलग-अलग नहीं ।" और ऐसा भी नहीं है कि निवेदनकर्ता का निवेदन प्रधान है और अन्य का किया निवेदन गौण । अतः यदि परिवारजनों का भगवान के अतिरिक्त कहीं और विनियोग होता भी हो तो कैसी चिन्ता ?" दूसरा वाक्य यह कि - "यह पुष्टिमार्ग में निवेदन की मर्यादा है परंतु पुष्टि (अर्थात् कृपा) इससे विलक्षण है, जिससे भगवान कभी इस मर्यादा को तोड़ भी दें और किसी का विशेषरूप से अंगीकार करें तो भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए" । अब यहाँ समझना है कि, इस श्लोक की प्रथम पंक्ति में स्वस्य पद कहा गया है, जो आत्मा अथवा तो चेतन वस्तु को दर्शा रहा है । और बांद की पंक्ति में "सर्वेषाम्" पद कहा गया है, जो फिर वापस शरीर धारण करने वाले चेतन आत्मा को ही दर्शित कर रहा है, फिर प्रभुचरणों ने इस श्लोक की व्याख्या में "भगवान को निवेदन करने पर चेतन-अचेतन जितने भी हैं, सभी समर्पित हो जाते हैं" इस प्रकार से क्यों कहा ? और, भगवान में समर्पित हो चुके देहादि का विनियोग स्त्री पुत्रादि में होने पर स्वधर्म की हानि तो तब होती, जब वे भगवान को समर्पित न हुए होते परंतु समर्पित हो चुके स्त्रीपुत्रादि में यदि स्वयं का विनियोग होता हो तो "समस्त निवेदित वस्तुओं को भगवान को समर्प कर ही समस्त कार्य करने चाहिए (सि.र./५)" इस वाक्य के द्वारा निवेदितों को सभी कुछ समर्पण करना कहा गया है और वह समर्पण परस्पर एकदूसरे के विनियोग द्वारा ही संभव है अतः भक्तिमार्ग की मर्यादा का बोध कराने वाले इस वाक्य से ही सर्वप्रथम तो चिन्ता होनी असंभव है अतः किसी पूर्वपक्षी को यह शंका हो सकती है कि, जब यहाँ चिन्ता होने का कोई प्रश्न ही नहीं है फिर प्रभुचरणों को इस चिन्ता को उठाकर उसका निवारण करने की क्या आवश्यकता थी ? इसलिए अब प्रभुचरण इसका और विशेष समाधान 'अथवा पुत्र' इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं । इस पंक्ति का भाव यह है कि सेवा में संबंधित जो परिवारजन (चेतनानां) हैं उनकी निवेदित पदार्थों से अतिरिक्त विषयों से संसर्ग हो जाने पर हमें जो चिन्ता होती है, उसकी निवृत्ति के लिए यह उपदेश है ।

किञ्च । स्वस्येतिपदमावृत्तमपिशब्देन सम्बध्यते ॥ ३ ॥

पुत्रादीनामित्यादिपदेनाचेतनानामपि संग्रहः । उत्तरपूर्ववाक्ययोरेकजातीयमेव ग्राह्यमित्यत्र नियामकत्वस्याभावात् । पूर्वव्याख्यानोक्ता चिन्ता तु पुष्टिमात्रविचारात् । साम्प्रतिका तु मार्गमर्यादात् इति न कोपि दोष इत्यर्थः । स्वस्येत्यन्तस्य पदराशोः पूर्ववाक्य एव सम्बन्धे शिष्टं सोपि चेदिति पदत्रयमलग्नं तिष्ठतीति, तत्सम्बन्धायाहुः किञ्चेत्यादि ॥ ३ ॥

'पुत्रादीनां' पद में जो 'आदि' पद जुड़ा है, उससे जड़-पदार्थ (अचेतन) भी संग्रहीत हो जाते हैं । और, पहले एवं बाद के वाक्यों में एकजातीयता हो और वे एक ही अर्थ को कहते हों, ऐसा कोई नियम भी नहीं है । पहले के वाक्य में जो "निवेदन होने के पश्चात् यदि हमारा संसर्ग हमारे परिवारजनों से होता हो, तो क्या करना ?" यह चिन्ता बताई गई थी, उसका निवारण तो पुष्टि अर्थात् भगवद्-कृपा मात्र के विचार द्वारा ही हो जाता है कि भगवान ने हमारे साथ अन्य दूसरे परिवारजनों पर भी कृपा करके उनका भी समर्पण स्वीकार किया है अतः चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है । दूसरे वाक्य में जहाँ प्रभुचरणों ने 'अथवा' कहकर दूसरा व्याख्यान किया है, वहाँ बताई गयी चिन्ता अर्थात् 'पुत्र-परिवारजनों का विनियोग भगवत्सेवा में न होकर कहीं अन्यत्र होता हो, तो क्या करना ?' इस प्रकार की चिन्ता का व्याख्यान किया है और वह इसलिए क्योंकि ऐसा होने पर कहीं मार्ग की मर्यादा भंग होने का प्रश्न उठता है । अतः प्रभुचरणों ने यहाँ दो प्रकार से अर्थ किया है तो इसमें कोई दोष नहीं है । यहाँ यह समझना चाहिए कि मूलकारिका में प्रयुक्त हुए 'स्वस्य' पद को यदि हम केवल "अतोऽन्यविनियोगेपि चिन्ता का" इतने ही वाक्य के संग जोड़ें, तो शेष बचे 'स', 'अपि' एवं 'चेत्' यह तीन पद बिना जुड़े हुए ही रह जाते हैं । अतः इन तीनों पदों का संबंध 'स्वस्य' पद के साथ जोड़ने के लिए प्रभुचरणों ने 'किञ्च' से लेकर 'सम्बध्यते' तक की पंक्ति में कहा है ।

यथा पुत्रादीनाम्, तथा स्वस्यापि सः अन्यविनियोगश्चेत्, तदापि चिन्ता न कार्येत्याहुः अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिश्चिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्णसात्कृतप्राणैश्चिन्ता न कार्येति किमु वाच्यमित्यर्थः ।

संबन्धं बोधयित्वा अर्थं वदन्तोऽग्रिममवतारयन्ति यथेत्यादि, स्वस्येति । अनुभावज्ञानेन स्वस्मिन् विशेषाङ्गीकारं निश्चितवता वा सेवाकर्तृत्वेन प्रधानस्य वा । इत्याहु रिति । इतिपदं कैमुतिकबोधकेनाग्रिमवाक्येनाहुरित्यर्थः । ज्याकुर्वन्ति हीनेत्यादि । हीनमध्यमाधिकारिभिरिति । भगवतः सर्वरूपत्वेन मार्गप्रवर्तकोपदेशकगुर्वादिरूपताया निरवधिसच्चिदानन्दस्वरूपत्वेन परमफलताया निरुपधिभक्त्येकप्राप्यतायाश्चाज्ञानाद्धीनाधिकारिभिः । तादृशज्ञानवत्त्वेपि कृष्णसात्कृतप्राणत्वाभावेन मध्यमाधिकारिभिरित्यर्थः । शेषं व्याख्यानं तु स्पष्टार्थम् ।

इस पंक्ति में प्रभुचरण स्वस्य पद का संबंध दोनों ओर जोड़ कर अब उसका अर्थ आगे 'यथा' से लेकर 'स्वस्य' तक के 'शब्दों' से कह रहे हैं । यहाँ 'स्वस्य' पद से तात्पर्य ऐसे भक्त का है जिसने भगवद्-अनुभाव के ज्ञान के कारण अपनेआप में विशेष अंगीकार का होना निश्चित माना है अथवा तो भगवत्सेवा करने के द्वारा जो प्रधान निवेदनकर्ता है, वह 'स्वस्य' पद का अर्थ है । अब इत्याहुः इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं । यहाँ प्रयुक्त हुआ 'इति' शब्द आगे चौथे श्लोक में आनेवाले कैमुतिकवाक्य का बोधक है । प्रभुचरण 'इति' शब्द के द्वारा उस कैमुतिकन्याय के वाक्य को कहना चाह रहे हैं, यह अर्थ है । (जानना चाहिए कि अग्रिम चौथे श्लोक में कैमुतिकन्याय प्रयुक्त हुआ है । इसका तात्पर्य यह है कि जहाँ अज्ञान अथवा ज्ञानरहित निवेदन करनेवालों को भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, वहाँ कृष्ण से अपने प्राणों को आत्मसात् करने वालों को नहीं ही करनी चाहिए, इसमें क्या कहना ? प्रभुचरण 'यथा.....इति' इस पंक्ति में उठी चिन्ता का निवारण इसी कैमुतिकन्याय से बता रहे हैं।) इसी अर्थ का विवरण वे 'हीन' इत्यादि वाक्यों से कर रहे हैं । इस पंक्ति में आए "हीनमध्यमाधिकारिभिः" शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । जिनको भगवान की सर्वरूपता, मार्गप्रवर्तक-उपदेशक गुरु में भगवद्-भाव, निरवधि-सच्चिदानन्दरूप एवं परमफलरूप और मात्र निरुपधिभक्ति से प्राप्त होने वाले भगवान के स्वरूप का ज्ञान नहीं है, वे हीन-अधिकारी हैं । परंतु जिनको ये ज्ञान है तथापि उन्होंने कृष्ण में अपने प्राण आत्मसात् नहीं किए, वे मध्यमाधिकारी हैं, इनको भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, यह अर्थ है । शेष व्याख्यान का अर्थ तो स्पष्ट है ।

केवलं प्रभवधीनीकृतप्राणानां चिन्ताविषयाभावादेव न सेति भावः । अत एव केतिशब्द उक्तः । पदसम्बन्धस्तु अज्ञानादयवा ज्ञानायै-स्तत्कृतम्, तेषां सा नेतिशेषः । कृष्णसात्कृतप्राणैर्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा केत्युक्तम् ॥ ४ ॥

तथा च स्वस्मिन् विशेषानुग्रहं निश्चितवतोपि यत्रान्यविनियोगसंभवः, तत्र भगवदिच्छैव किञ्चित्कार्यार्थं तादृशी तेनावधार्या, न तु चिन्ता कार्या, तन्मूलभूतस्य स्वापराधस्याभावादिति । तदेतदुक्तं केवलमित्यादिना, केति शब्द उक्त इत्यन्तेन । कैमुतिकन्यायस्य स्पष्टीकरणार्थं पदसम्बन्धमाहुः पदेत्यादि, सा केत्युक्तमित्यन्तम् । अत्रेदमुक्तं भवति । एकादशस्कन्धे साधुलक्षणकथनसमाप्तौ 'ज्ञात्वाऽऽज्ञात्वाय ये वै मां यावान् यश्चास्मि यादृशः । भजनन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मता' इति भगवद्वाक्ये हीनमध्यमयोरप्यनन्यभावेन भजने भक्ततमतयोत्कर्षः कथितः । भगवदुद्धवसंवादसमाप्तौ च 'न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि । मया व्यवसितः सम्यङ् निर्गुणत्वाद्नाशिषः । यो यो मयि परे धर्मः कल्पते निःफलाय चेत् । तदायासो निरर्थः स्याद्भयादेरिव सत्तमे'ति श्लोकद्वयं भगवतोक्तम् ।

और, जहाँ जीव में भगवान द्वारा विशेष अनुग्रह हुआ होना निश्चित भी हुआ हो तथापि उस जीव का भगवान के अतिरिक्त कहीं विनियोग दिखाई पड़ता हो; तो ऐसे में भी 'भगवान की ही इच्छा कुछ ऐसा कार्य करने की है' इस प्रकार से मन में धारणा करनी चाहिए और चिन्ता नहीं करनी चाहिए । ऐसे अन्य विनियोग होने का मूलकारण स्वयं जीव का कोई अपराध है - ऐसा नहीं है । इसी भाव को प्रमुचरणों ने 'केवलं' शब्द से लेकर 'केति शब्द उक्त' तक की पंक्ति द्वारा कहा है । उपर कहे कैमुतिकन्याय को स्पष्ट करने के लिए चौथे श्लोक के पदों का परस्पर संबंध प्रमुचरण 'पद' शब्द से लेकर 'सा केत्युक्तम्' इन शब्दों द्वारा कह रहे हैं । इस का भावार्थ जानने के लिए समझें कि एकादशस्कंध में जहाँ भगवान ने उद्धवजी को संतपुरुष लक्षण कहे हैं वहाँ समाप्ति पर 'मैं कौन हूँ, कैसा हूँ, कितना बड़ा हूँ-इन बातों को जानें या न जानें किंतु अनन्यभाव से जो मेरा भजन करते हैं, मेरे विचार से वे मेरे परमभक्त हैं (श्री.भा. ११/११/३३)'' इस वाक्य द्वारा उन्होंने हीन-मध्यम अधिकारियों को भी अनन्यभाव से भजन करने पर उन्हें 'परमभक्त' कह कर उनका उत्कर्ष कहा है । इसी प्रकार भगवान एवं उद्धवजी के संवाद की समाप्ति पर भगवान ने 'हे उद्धव ! मेरे इस धर्म को एक बार आरंभ कर देने के पश्चात् किसी भी प्रकार के विघ्नों से यह भंग नहीं होता । क्योंकि यह धर्म निष्काम है और मैंने ही इसकी व्यवस्था की है । यहाँ तक कि भक्त यदि हर्ष-शोक के अवसर पर रोने-पीटने या भागने जैसे निरर्थक कार्य भी निष्कामभाव से मुझे समर्पित कर दें, तो मेरी प्रसन्नता के कारण ऐसे कार्य भी धर्म बन जाते हैं (श्री.भा. ११/२९/२०/२१)'' इन दो श्लोकों के द्वारा भी यही कहा है ।

तच्च श्रीधरीये, अङ्ग हे उद्धव, अनाशिषो निष्कामस्य मद्धर्मस्य उपक्रमे सति, अण्वपि, ईषदपि वैगुण्यादिभिर्नाशो नास्त्येव । यतो मयैव निर्गुणत्वादयं धर्मः सम्यग्व्यवसितो निश्चितः, न तु मन्वादिमुखेन कथञ्चित् । ननु त्वद्धर्मस्य एवं सामर्थ्यम्, तस्मादन्यत्र कथम्, तत्राह यो य इति । अथमर्थः । किं वक्तव्यं मद्धर्मस्य न ध्वंस इति, यतो लौकिकोपि यो यो निरर्थो व्यर्थ आयासः, सोपि मयि परे परमेश्वरे निष्फलाय कल्प्यते चेत्, निष्कामतया अर्पितश्चेत्, तर्हि स धर्म एव स्यात्, कर्मकरणायासो न निरर्थः स्यात् । निरर्थायासे दृष्टान्तः । यथा भयशोकादेर्हेतोः पलायनक्रन्दनादिस्तद्वत् । एवं व्याख्यातम् ।

इन्हीं दो श्लोकों का भाव श्रीधरजी ने (श्रीमद्-गागवत के एक प्राचीन टीकाकार) स्वयं की टीका में भगवान के वचनों को इस प्रकार से कहा है कि 'हे उद्धव ! कामनारहित-निष्काम भाव से मेरे धर्म का आचरण आरंभ करने पर यदि भक्त गुणरहित हों, तो भी इस धर्म का नाश नहीं होता क्योंकि मैं स्वयं निर्गुण हूँ और मैंने ही इस धर्म की व्यवस्था निश्चित की है, 'मनु' आदि किसी अन्य ने नहीं । मान लें कि भगवद्-धर्मों की ऐसी सामर्थ्य है कि उनका नाश नहीं होता परंतु भगवद्-धर्मों से भिन्न अन्य दूसरे लौकिक कार्य यदि भक्त करे, तो उसकी क्या गति होगी ? यदि कोई ये शंका करे तो उसका समाधान दूसरे श्लोक के 'यो यो' इत्यादि शब्दों से कहा गया है । इसका अर्थ यह है कि भगवान कह रहे हैं - मेरे धर्मों के नष्ट न होने कौं तो कहना ही क्या ? क्योंकि लौकिक में भी जीव जो निरर्थक प्रयास करता है, वे लौकिक प्रयत्न भी यदि निष्कामतया मुझे अर्पित कर दिए जाएँ, तो वे भी धर्म बन जाते हैं । उनके कर्म करने के प्रयास निरर्थक नहीं होते । इन निरर्थक प्रयासों में दृष्टान्त यह दिया है कि जैसे भय-शोक के कारण भागना-रोना इत्यादि लौकिक कार्य भी यदि भगवान के लिए किए जाएँ और भगवान को अर्पित कर दिए जाएँ तो, वे भी धर्म बन जाते हैं । इस प्रकार से श्रीधरजी ने व्याख्या की है ।

तथा च निष्कामभगवद्धर्मस्य वैगुण्यादिभिरीषदपि नाशो नास्तीति भगवता कथनात् प्रकृते चात्मनिवेदनस्य अधिकारतया

तथात्वात् हीनाद्यधिकारेपि साधनतः फलतश्च नाशाभावाच्चिन्ताया अभावो यत्र, तत्र मुख्याधिकारे किं वक्तव्यमिति भगवद्वाक्यादेव सिद्धम् । तथा भगवदर्थो लौकिकोप्यायासो नापार्य इति च । अतः पूर्वोक्तं सर्वं युक्तमेवेति तेषामुक्तचिन्ताजन्या विलापात्मिका परिदेवना का, न कापीत्यथदिवोक्तमित्यर्थः ॥ ४ ॥

इस प्रकार, 'जीव के विकृत भावों से भी निष्काम भगवद्-धर्म का लेशमात्र भी नाश नहीं होता है'-यह भगवान ने कहा होने के कारण यहाँ भी यह जानना चाहिए कि आत्मनिवेदन से भगवत्सेवा का अधिकार पैदा होता है और आत्मनिवेदन तो भगवद्-धर्मों के अंतर्गत ही है अतः यदि जीव हीन-अधिकारी हो, तब भी न तो उसके धर्म की साधनरूपता नष्ट होगी और न ही उस भगवद्-धर्म से उत्पन्न होने वाला भक्तिरूपी फल ही नष्ट होगा । मुख्य-अधिकार होने पर तो कहना ही क्या ? यह तो इन-भगवद्-वाक्यों से ही सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार, भगवान के लिए किया गया लौकिक प्रयास भी व्यर्थ नहीं जाता है, यह जानना चाहिए । अतः पूर्व में दिया गया समस्त उपदेश युक्त ही है अतः ऐसे आत्मनिवेदियों को ऐसी चिन्ताओं से होने वाली रोने-घोने वाली चिन्ताएँ क्यों होनी चाहिए ? कोई भी नहीं, यह कहा है ॥४॥

ननु सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्येते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने कृतेपि प्रभुरङ्गीकृतवान्नेवेति चिन्ता भवत्येव, इत्यत आहुः तथेति ।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।

विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तमोऽङ्गीकृतवान्नेवेति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या उक्तनिवेदनवदित्यर्थः ।

एवं निवेदितविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्युपायमुक्त्वा इदानीं निवेदनविषयिण्याश्चिन्ताया निवृत्त्युपायं वदन्तीत्याशयेनाग्रिम-मवतारयन्ति ननु सख्येत्यादि । प्रेमभक्तौ हि विहितश्रवणादिनवकं प्रत्येकं क्वचित् समुदितं च साधनम्, तेष्वद्यं त्रयं सेव्यनिरपेक्षजीवमात्रसाध्यम् । पादसेवनमपि 'पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पण' इति नवमस्कन्धवाक्योक्तरीत्या पद्धत्यां सेवनमिति पक्षे पूर्ववदेव । पादयोः सेवनमितिपक्षे तु सेव्यसापेक्षम् । तथैवार्चनादित्रयमपि । तथा सत्येत्तच्चतुष्टयं त्रयं वा सेव्ये चैतन्यप्राकट्येपि सिध्यति । सख्यात्मनिवेदने तु भजनीये चैतन्यप्राकट्यमपेक्षेते । यदि हि भजनीयो भक्ते सख्यं तत्कृतमात्मनिवेदनं च चैतन्यप्राकट्येनाङ्गीकुर्यात्, तदा भगवदङ्गीकारेण सम्पद्येते । तत्प्राकट्यं तु प्रेमभक्त्यधीनम् । साम्प्रतं तु तत्साधनदशा, तथा चेदानीं तत्प्राकट्याभावात् स्वयमित्यादिनोक्ता चिन्ता भवत्येव हीनमध्यमयोरित्यतस्तन्निवृत्त्युपायमाहुरित्यर्थः । व्याकुर्वन्ति पुरुषोत्तम इत्यादि । उक्तनिवेदनवदिति । मूलस्थस्य तथापदस्यार्थः ।

इस प्रकार निवेदित हुए पदार्थों के विषय की चिन्ता की निवृत्ति का उपाय कह कर अब प्रभुचरण निवेदन के विषय की चिन्ता का उपाय कहने के आशय से आगे के श्लोक की व्याख्या ननु सख्य इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं । यहाँ समझना चाहिए कि प्रेमलक्षणा भक्ति के अंतर्गत कही गई नवधामभक्ति में से प्रत्येक भक्ति कहीं न कहीं, किसी न किसी साधन के तौर पर कही गई है । इनमें से प्रथम तीन भक्ति (अर्थात् 'श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण') सेव्यस्वरूप की अपेक्षा न रखते हुए केवल अकेले जीव द्वारा भी की जा सकती है, इनमें भगवान के स्वरूप की आवश्यकता नहीं होती । इसी प्रकार चौथी 'पादसेवन' भक्ति भी 'राजा अंबरीष के पैर भगवान के क्षेत्र की यात्रा करने में लगे रहते (श्री.मा. ९/४/२)' इस नवमस्कंध के वाक्यानुसार पैरों द्वारा हरि की सेवा का अर्थ 'पादसेवन' है" इस अर्थानुसार केवल जीव के द्वारा की जाने वाली सेवा है, इसमें भी भगवत्स्वरूप आवश्यक नहीं होता । किंतु यदि 'पादसेवन' का अर्थ - प्रभु की चरणसेवा पादसेवन है - इस प्रकार से करें तो फिर भगवत्स्वरूप अपेक्षित हो जाता है । वैसे ही अर्चन- आदि (अर्थात् 'अर्चन, वंदन, सरव्य') तीनों भक्ति में सेव्यस्वरूप की अपेक्षा रहती है । अतः ये तीन अथवा चार प्रकार की भक्ति सेव्यस्वरूप के प्रत्यक्ष में प्रकट न होने पर भी सिद्ध हो जाती हैं । किंतु जहाँ तक 'सरव्य' एवं आत्म-निवेदनरूपा भक्ति का प्रश्न है, तो ये भजनीय स्वरूप के प्रत्यक्ष प्रकट होने पर ही सिद्ध होती है । और यदि भजनीय-प्रभु भक्त में रही सरव्यभक्ति एवं उसके द्वारा किए गये आत्म-निवेदन को साक्षात् प्रकट होकर अंगीकार करते हैं, तब ये दोनों प्रकार की भक्ति भी भगवद्-अंगीकार के द्वारा ही संभव हो पाती है । भगवान का ऐसे प्रकट होना भी प्रेमभक्ति के ही अधीन है । किंतु वर्तमान में तो जीव की साधनदशा है, और इस समय चूँकि भगवान प्रकट नहीं है अतः प्रभुचरणों द्वारा 'स्वयम्' इत्यादि शब्दों से कही चिन्ता हीन-मध्यम अधिकारियों को तो होती ही है अतः उनकी चिन्ता को निवृत्ति का उपाय वे कह

रहे हैं । अब 'पुरुषोत्तम' शब्द से लेकर 'उक्तनिवेदनवत्' तक की पंक्ति की व्याख्या कर रहे हैं । इस पंक्ति में मूलश्लोक के 'तथा' पद का अर्थ प्रभुचरणों ने किया है ।

पुरुषोत्तमेन निरोधलीलायां स्वतो न्यभजनं क्रियमाणा भक्तास्तत्रिवार्यं स्वयमात्मसात्कृता इति तादृशे स्वयं सर्वात्मना निवेदने कृते सा शङ्का नोचितेति ज्ञापनाय पुरुषोत्तमपदम् । तत्रापि स्वरूपानन्ददानेनानिशं पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्रोपयोगासम्भवेनैव न शङ्कोदय इति ज्ञापनाय श्रीपदम् । तथा च तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्येति भावः ।

अत्र च सप्तम्यर्थे वतिः । तथा च यथा भगवद्भूमौपक्रमरूपे निवेदनेऽन्यविनियोगादिना वैगुण्यतोपि भगवद्भर्मनाशा-भावाच्चिन्ता त्यज्यते, तथा अङ्गीकारसन्देहरूपा निवेदनविषयिण्यपि सा त्याज्येत्यर्थः । अत्र हेत्वपेक्षायां श्रीपुरुषोत्तमपदेन तं वदन्तीत्याशयेन तत्पदं विवृण्वन्ति, पुरुषोत्तमेनेत्यादि श्रीपदमित्यन्तम् । तात्पर्यं स्फुटीकुर्वन्ति तथा चेत्यादि । सरसभक्तयुक्तो भगवान् हीन्द्रयागभङ्गगोवर्धनोद्धरणदिलीलाभिस्तथाकुर्वन् स्वीयान् पुष्पातीति इन्द्रयागभङ्गादिबोधकाच्छब्दादेव भगवतस्तथास्वभावमवगत्य सा त्याज्या, स्वस्यानन्यभावेन भजनस्य निवर्हि कार्यलिङ्गकानुमानादेवाङ्गीकारं निश्चित्य सा त्याज्या भक्तानां दयालुत्वादित्यर्थः ।

यहाँ 'उक्तनिवेदनवत्' शब्द में सप्तमी-विभक्ति के अर्थ में 'वत्' प्रत्यय हुआ है । अतः इस प्रकार जैसे भगवद्-धर्म को आरंभ करनेवाला निवेदन होने पर भगवान् से अतिरिक्त अन्य कहीं अपना विनियोग हो जाने से विगुणता उत्पन्न होने पर भी भगवद्-धर्म का नाश नहीं होता और चिन्ता त्याग दी जाती है वैसे ही - निवेदन होने पर प्रभु ने मेरा अंगीकार किया या नहीं? इस प्रकार के संदेह से उत्पन्न होनेवाली निवेदनविषयक चिन्ता भी त्याग देनी चाहिए । यह चिन्ता क्यों त्याग देनी चाहिए ? इसका हेतु बताने के लिए 'पुरुषोत्तम' पद के द्वारा प्रभुचरणों ने 'पुरुषोत्तम' शब्द से लेकर 'श्रीपदम्' तक की पंक्ति द्वारा विवरण किया है । इसी का तात्पर्य उन्होंने इस पंक्ति के पश्चात् 'तथा च' इन शब्दों से स्पष्ट किया है । और वह यह कि, रसयुक्त-भक्त से युक्त भगवान् ने इन्द्रयाग-भंग एवं गोवर्धन-उद्धरण आदि लीलाओं द्वारा अपने स्वीयजनों का अन्याश्रय छुड़ाते हुए उनका पोषण किया है । अतः 'इन्द्रयाग-भंग' जैसे शब्दों से ही बोध होते भगवान् के ऐसे दयालु स्वभाव को जान कर चिन्ता त्याग देनी चाहिए । स्वयं के अनन्यभावपूर्वक भजन का निवर्हि होने पर भगवान् के ऐसे दयालुता के कार्यलक्षणों के अनुमान द्वारा ही "मेरा अंगीकार अवश्य हुआ है" यह निश्चित् करके चिन्ता त्याग देनी चाहिए, क्योंकि भगवान् भक्तों के लिए बड़े दयालु हैं, यह अर्थ है ।

न च निवेदनगद्ये भगवतः केवलस्यैव सम्प्रदानत्वमुक्तमिति कथमत्र श्रीपुरुषोत्तमपदेन भक्तयुक्ते निवेदनमुच्यते इति शङ्क्यम् । एकादश एव 'रामेण सार्धं'मित्यादिना या तावद्भक्तिः प्रशंसिता, तत्परमकारणत्वेनो नविश आत्मनिवेदिधर्मा उक्ताः, तत्रात्मनिवेदनप्रकारो न स्फुट इति तत्रत्यं सर्वं संगृह्य कल्पसूत्रवत् गद्ये प्रभुणोक्तः, अतः कृष्णपदेन तत्र ताभिः सहित एव परामुद्रयते । तेन भक्तयुक्तस्यैव सम्प्रदानत्वम् । किञ्च, सदानन्दो हि भगवान् रसात्मक एव, 'रसो वै स' इति श्रुत्या सिद्धो, रसश्चालम्बनसापेक्ष एवेत्यतोपि तथेपि न विरोधगन्धोपि ।

और, यहाँ ये शंका भी नहीं करनी चाहिए कि निवेदन-गद्यमंत्र में तो केवल भगवान् को ही निवेदन करना कहा गया है और यहाँ श्री से युक्त अर्थात् भक्तों से युक्त 'श्रीपुरुषोत्तम' में निवेदन करना कहा जा रहा है । (टीकाकार कहना चाह रहे हैं कि शंका ये हो सकती है कि गद्यमंत्र में तो केवल भगवान् को निवेदन करना कहा गया है और यहाँ 'श्रीपुरुषोत्तम' को निवेदन करना कहा जा रहा है, वह कैसे ? प्रभुचरणों ने अपनी टीका में भक्तों को अपने स्वरूपानन्द का दान देने वाले पुरुषोत्तम के अर्थ में 'श्री' पद को स्पष्ट किया है अतः यहाँ ऐसे भक्तों से युक्त पुरुषोत्तम अर्थात् 'श्रीपुरुषोत्तम' को निवेदन करना सिद्ध हो रहा है यह अर्थ है ।) क्योंकि एकादश स्कंध में "हे उद्धव ! जिस समय अक्रूरजी मुझे भैया बलराम के संग ब्रज से मथुरा ले आए (श्री.भा. ११/१२/१०)" इत्यादि वाक्यों द्वारा जिस भक्ति की प्रशंसा की गई है, उसी भक्ति के परमकारणरूप आत्मनिवेदियों के धर्म उन्नीसवें अध्याय में कहे गये हैं । वहाँ आत्मनिवेदन का प्रकार स्पष्टतापूर्वक नहीं कहा गया है । अतः वहाँ से उन उपदेशों को संग्रहीत करके कर्मों के कल्पसूत्र की भाँति प्रभु ने गद्यमंत्र में कहे हैं । (धर्म-संबंधी व्यवस्था बताने वाले ग्रंथ को "कल्पसूत्र" कहते हैं । इनमें छोटे छोटे सूत्रों द्वारा शौचसंबंधी, वैदिकसंबंधी, यज्ञसंबंधी, व्यवस्था दर्शाई गई है) अतः गद्यमंत्र में श्री 'कृष्ण' पद के द्वारा भक्तों के सहित भगवान् में ही निवेदन करना कहा गया है । इस कारण गद्यमंत्र में भी ब्रजगोपिकाओं से युक्त भगवान् में ही निवेदन है । और भी सदानन्द भगवान् "वह भगवान् निश्चित् ही रसरूप है (वै. ३०/२/७)" इस श्रुति के द्वारा रसात्मक सिद्ध होते हैं और रस तो किसी न किसी के आलम्बन भाव की अपेक्षा रखता ही है, इस कारण से भी वे ब्रजगोपिकाओं/ब्रजन्तों से युक्त भगवान् हैं अतः यहाँ विरोध की गंध भी नहीं है । (टीकाकार ने उपयुक्त श्रुति द्वारा भगवान् को रसात्मक

सिद्ध किया है । इसके पश्चात् वे कहते हैं कि रस की पहली शर्त यही है कि वह किसी न किसी के आलंबनभाव के बिना टिक नहीं सकता । ठीक इसी प्रकार भगवान भी यदि रसरूप हैं तो ब्रजभक्तों के आलंबनभाव के कारण ही हैं । ब्रजभक्तों के बिना उनकी रसरूपता सिद्ध ही नहीं हो सकती है । अतः इससे भी सिद्ध होता है कि पुष्टिप्रभु भक्तयुक्त-भगवान हैं, यह अर्थ है।)

कदाचिल्लोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशादन्यविनियोगेपि तथेत्याहुः विनियोगेपीति । प्रमादात्तथासम्भवेपि प्रभुर्न त्यक्ष्यति । यतस्तत्स्वभाववशात्तथाभूतमप्युद्धर्तुं तत्साधनानपेक्षः ॥ ५ ॥

ननु सत्यमेवम्, तथापि स्वस्य कदाचित् कथञ्चिदन्यविनियोगे जाते तस्माद्विरुद्धकार्यादङ्गीकारे सन्देहो भवत्येवेति तद्रूपा सा कथं त्यक्तुं शक्येत्याकाङ्क्षायां तत्रोपायं वदन्तीत्याशयेनोत्तरार्धमवतारयन्ति कदाचिदित्यादि । न तथेति । न कार्या । व्याकुर्वन्ति प्रमादादित्यादि । तत्स्वभाववशात्तथाभूतमिति । जीवस्वभाववशात् कदाचित् बहिर्मुखम् । तथा च तादृशस्य कदाचिदन्यभजनाभावेनैवं बाहिर्मुख्ये तस्य जुगुप्सा तूर्पयत एवेति तेन कार्येण सप्रतिबन्धकमङ्गीकारमनुमाय 'हराम्यघं यत्स्मर्तृणां हविर्भागं क्रतुष्वहम् । वर्णश्च मे हरिचेष्टस्तस्माद्धरिहं स्मृत' इति भारते भगवद्बचनात्, भगवतः स्वीयाघनिवर्तकत्वमनुसन्धाय अपराधिनां बकीबकादीनामप्यनुग्राहकत्वेन जीवकृतसाधनानपेक्षत्वं चानुसन्धाय सा त्याज्येत्यर्थः । एतेनैतादृशदीनभावोत्पत्तिरङ्गीकार-लक्षणमित्युक्तम् ॥ ५ ॥

चलिए मान लें कि ऐसा ही है और जीव कोई चिन्ता न करे परंतु कदाचित् निवेदन करने के पश्चात् यदि स्वयं का विनियोग प्रभु के अतिरिक्त अन्यत्र हो जाय, जो निवेदन की मर्यादा के विरुद्ध है तो ऐसे में 'प्रभु ने हमें अंगीकार किया या नहीं ?' ऐसा संदेह तो होता ही है । तो ऐसी चिन्ता त्यागनी कैसे संभव है ? यह शंका होने पर उसका उपाय कहने के आशय से प्रभुचरण श्लोक की दूसरी पंक्ति का विवरण 'कदाचित्' शब्द से लेकर 'न तथा' तक की पंक्ति द्वारा कर रहे हैं । वे कहते हैं कि ऐसी चिन्ता नहीं करनी चाहिए । अब 'प्रमादात्' शब्द से लेकर 'भूतम्' तक की पंक्ति की व्याख्या कर रहे हैं । जीव के स्वभाववश कभी बहिर्मुखता हो जाती है । और उस बहिर्मुख हुए जीव को भगवान का अनन्ययतापूर्वक भजन प्राप्त न होने के कारण उस बहिर्मुखता से आत्मग्लानि तो उत्पन्न होती ही है । अतः महाभारत में कहे "मैं स्मरण करने वालों के पाप हरण करता हूँ, यज्ञों में दी गई आहुति का हरण करता हूँ अतएव मेरा नाम 'हरि' है" इस वाक्य के द्वारा-भगवान प्रतिबंधकों के सहित जीव को अंगीकार करते हैं - यह अनुमान लगाकर चिन्ता त्याग देनी चाहिए । और, "भगवान स्वीयजनों के पापों के निवर्तक हैं" ऐसा अनुसंधान करके एवं चूँकि भगवान ने पूतना एवं बकासुर जैसे अपराधियों पर भी कृपा की थी अतः भगवान जीव के साधनों की अपेक्षा नहीं रखते हैं, यह अनुसंधान रखकर चिन्ता त्याग देनी चाहिए, यह अर्थ है । इससे यह सिद्ध हुआ कि हृदय में ऐसा दीनभाव उत्पन्न होना ही अंगीकार का लक्षण है, यह कहा है ॥५॥

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमप्याहुः लोक इति ।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

कदाचित् प्रवाहवशात्लौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मादौ वा स्थितौ तत्र विघ्न एव भवति, न तु तत्फलमित्यर्थः । तत्र हेतुः पुष्टीति । तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वकर्ता यत इति भावः । पुष्टिमार्गाङ्गीकारे मर्यादां न सहत इति ज्ञेयम् । एवं सति किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः, साक्षिवत् तत्कृतं पश्यत ॥ ६ ॥

एतद्वाह्यार्थमन्यदपि वदन्तीत्याशयेनाग्रिमवतारयन्ति अङ्गीकार इत्यादि । व्याकुर्वन्ति कदाचिदित्यादि । अत्र च 'त्रैवर्गिकायासे'ति पूर्वोक्तं षष्ठस्कन्धवाक्यमेव बीजत्वेन ज्ञेयम्, पुष्टिप्रकरणस्थत्वात् । तथाच यथा वृत्रस्य तादृशसङ्घोपस्थितावपि भगवत्प्रसादानुमित्तिरेव जाता, तथास्यापि लौकिकवैदिकास्वास्थ्योपस्थितौ यद्भगवत्प्रसादानु-सन्धानम्, तदप्यङ्गीकारलक्षणम् । एतादृशबोधवन्तं प्रत्युपदिशन्ति साक्षिण इत्यादि । तद् व्याकुर्वन्ति साक्षिवत् तत्कृतं पश्यतेति । तथा च 'ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे । यद्धदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्मम' इति सप्तमस्कन्धस्थभगवदीयगृह-स्थप्रकरणस्थवाक्यात् पूर्वोक्तरीत्या

एतदाचार्यवाक्येन लौकिके वैदिके साक्षिवत् भगवत्कृतित्वदर्शनं यत्तदपि तद्वृत्तमिति ॥ ६ ॥

इसी पक्ष को दृढ़ करने के आशय से प्रभुचरण अग्रिम श्लोक की व्याख्या 'अंगीकार' इत्यादि शब्दों से आरंभ कर रहे हैं । अब 'कदाचित्' इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं । प्रभुचरणों ने जो यहाँ 'कदाचित्' से लेकर 'अर्थः' तक की पंक्ति में जो विघ्नवाली बात कही है, उसका कारण तो उन्हीं के द्वारा पूर्व में कहा "भगवान् अपने भक्त के धर्म-अर्थ-काम संबंधी प्रयासों को निष्फल कर देते हैं (श्री.भा. ६/११/२३)" ये षष्ठस्कंध का वाक्य ही जानना चाहिए क्योंकि यह वाक्य पुष्टि के प्रकरण में कहा गया है । जैसे वृत्रासुर को संकट की ऐसी परिस्थिति होने पर भी भगवान् की कृपा का ही अनुसंधान हुआ, वैसे ही यहाँ इस जीव को लौकिकवैदिक असफलता से दुःख प्राप्त होने पर भी जब भगवत्कृपा का ही अनुसंधान होता है, तो वह भी भगवान् द्वारा अंगीकार किए जाने का ही लक्षण है । ऐसे विवेकी जीव के प्रति ही आचार्यचरणों ने साक्षिणः शब्दों द्वारा उपदेश किया है । प्रभुचरणों ने भी इसी का 'साक्षिवत् तत्कृतं पश्यत' इत्यादि शब्दों से किया है । और भी, "माता-पिता, भाई-बन्धु, पुत्र-मित्र, और जातिबंधु चाहे जो कहें या चाहें, उनमें ममतारहित होकर उन्हें प्रसन्न रखना चाहिए (श्री.भा. ७/१४/६)" इस सप्तम-स्कंध में कहे 'भगवदीय गृहस्थ प्रकरण' के इस वाक्य के अनुसार, पूर्व में कही रीति द्वारा इन आचार्यवचनों द्वारा लौकिकवैदिक में केवल साक्षिवत् भगवत्कृतियों को देखते रहना भी अंगीकार का लक्षण है ॥६॥

### सेवाकृतिगुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।

अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥ ७ ॥

सेवाकृतिरिति । गुर्वाज्ञाया अबाधनं यथा भवति, तथा सेवाकृतिः पूर्वमपेक्षिता । एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत्, गुर्वाज्ञा विरुद्धा भवेत्, तदा तथा कार्यमित्याशयेनाहुः बाधनं वा हरीच्छया । विकल्पेर्नाबाधनमित्यर्थः । एवं सति गुर्वाज्ञाया अबाधने बाधने वा सेवैव मुख्या यतोऽतस्तथैव स्थेयमित्याहुः अत इति ।

नन्वत्रास्वास्थ्येपि साक्षिवत्कृतिदर्शनोपदेशेन त्रिदुःखसहनरूपं धैर्यमेव साधनत्वेनोक्तं भवति, ततश्च तावन्मात्रस्य कर्तव्यत्वे सेवायाः सम्यगसम्भवान्निवेदनवैयर्थ्यं तु स्यादेवेति प्रकारान्तरेण धर्महानिचिन्ताप्राप्तौ तन्निवृत्त्यर्थमुपदिशन्तीत्याशयेनाग्रिमवतारयन्ति एवं सतीत्यादि । व्याकुर्वन्ति गुर्वाज्ञाया इत्यादि । तथा कार्यमिति । बाधनं कार्यम् । तथा च 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरो'विति श्वेताश्वतरश्रुते 'नैवोऽपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश ब्रह्मादयोऽपि कृतमृद्धमुदः स्मरन्तः । योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ती'त्येकादशावाक्यादिभ्यश्च गुरुरेव मुख्य इति । गुर्वाज्ञाबाधनाभावपूर्वकं सेवाकृतिरात्मनिवेदिधर्मः स यादृशेन साक्षिवत् तत्कृतिदर्शनेन न विघटितो भवति, तादृशतया साक्षिवत् स्यात्तव्यम्, न तु सेवाविरुद्धतया । तेन लौकिके विषये साक्षिवत् स्थेयम्, न तु सेवाविषये इति सिध्यति । तत्रापि हरीच्छा विचार्या, अबाधने बाधने वा सास्तीति ।

परंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, यहाँ लोकवेद में असफलता प्राप्त होने पर भी साक्षि की भाँति केवल भगवल्लीला को देखते रहने का उपदेश ऐसा लगता है मानो तीन प्रकार के दुःखों में धैर्य रखने का उपदेश दिया जा रहा हो । अतः यदि केवल धैर्यपूर्वक देखते ही रहें तो भगवत्सेवा भलीभाँति से हो नहीं पायेगी और निवेदन व्यर्थ चला जायेगा । अतः इस दूसरे प्रकार से होती धर्महानि की चिन्ता होने पर उसकी निवृत्ति के लिए प्रभुचरणों ने अग्रिम श्लोक का आरंभ 'एवं सति' इत्यादि शब्दों से किया है । इसी को वे 'गुर्वाज्ञाया' से लेकर 'तथा कार्यम्' की पंक्ति में व्याख्यायित कर रहे हैं । अर्थात् विशेष भगवद्-आज्ञा होने पर गुरु-आज्ञा को बाधित कर देना चाहिए । और, "जिसकी परमात्मा में परम भक्ति है और वैसी ही गुरु में भी है, उसी महात्मा के हृदय में ये उपदेश प्रकाशित होते हैं (श्वेता. ६/२३)" इस श्रुति के द्वारा एवं 'हे भगवन् ! आप समस्त प्राणियों के अन्तःकरण में अन्तर्यामी एवं बाहर गुरुरूप से स्थित होकर उनके पाप नष्ट कर देते हैं । बड़े-बड़े ज्ञानी ब्रह्मा की आयु पाकर भी आपका उपकार नहीं चुका सकते अतः वे निरंतर आपका स्मरण करते हैं (श्री.भा. ११/२९/६)" इत्यादि एकादशस्कंध के वाक्यों द्वारा गुरु ही मुख्य हैं । अतः गुरु की आज्ञा बाधित न हो ऐसे प्रकार से सेवा करनी आत्मानेवेदियों का धर्म है । भगवत्कृति को साक्षिवत् देखते रहना चाहिए परंतु भगवत्सेवा त्याग दे, ऐसा नहीं । इससे यह सिद्ध होता है कि लौकिक विषयों में ही साक्षिवत् देखते रहना चाहिए, भगवत्सेवा के विषय में नहीं । तिस पर भी हरि की इच्छा का ही विचार



करना चाहिए क्योंकि गुरु की आज्ञा बाधन करने में या अबाधन करने में भी मूलकारण तो भगवद्-इच्छा ही है ।

एवं सति पर्यवसितं सुखमेवेत्याशयेन सुखमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

सा च भगवदनुभावमनुभवतो बुद्धिगोचरो भवति, अन्यस्य तु फलबलकल्प्या । एवं सति यथाधिकारं तां बुद्ध्वा कार्यम् । ततो न स्वधर्महानिरित्यर्थः । एतदेव निगमयितुमुत्तरार्धमित्याशयेनावतारयन्ति एवं सतीत्यादि । तथा च यथा राजभोगसमये नेत्रे निमील्य बीजयन्तं बृहद्रामदासं प्रति भगवता श्रीगोवर्धनेश्वरेण साक्षाद्भुजानं मामुन्मील्य पश्येत्याज्ञते, ममात्चार्याज्ञा भोगसमये दर्शनविषयिणी नास्तीति नोन्मीलयिष्यामीति तैः प्रत्युक्तम्, तदा भगवान् प्रसन्न आसीत् । साम्प्रयादिविषयिण्यां विशेषाज्ञायां तु साधारण्याचार्याज्ञा बाध्यते, तदा नाप्रसन्नो भवति, तेन सेवाया एव मुख्यत्वम्, अतस्तदनुसारेणैव स्थेयमित्यर्थः । अत्रापि 'परिनिष्ठा तु पूजाया'मिति निवेदिप्रकरणस्थं भगवद्वाक्यमेव बीजत्वेन ज्ञेयम् । सर्वतो नितरां निरवधितया वा स्थितेरेव परिनिष्ठापदार्थत्वादिति ॥ ७ ॥

और, हरि की इच्छा तो भगवद्-अनुभाव का अनुभव करनेवालों को ही दृष्टिगोचर होती है, अन्य तो भक्ति में प्राप्त फल एवं प्रभुसामर्थ्य के बल की कल्पना ही कर सकते हैं । ऐसा होने पर यथाधिकार भगवद्-इच्छा को समझकर कार्य करना चाहिए । इससे स्वधर्म की हानि नहीं होगी, यह अर्थ है । इसी बात को बताने के लिए प्रभुचरणों ने मूलश्लोक की दूसरी पंक्ति का विवरण 'एवं सति' इत्यादि शब्दों से आरंभ किया है । और भी, जैसे वार्ता में उल्लेख है कि राजभोग के समय में नेत्र बंद करके पंखा करते हुए बड़े रामदासजी को भगवान् श्रीगोवर्धनेश्वर ने आज्ञा दी कि - नेत्र खोल कर मुझे साक्षात् भोजन करते हुए देखो-तब उन्होंने प्रत्युत्तर दिया कि - आचार्यचरणों ने मुझे भोग के समय दर्शन करने की आज्ञा नहीं दी है अतः मैं नहीं खोलूँगा - तब भगवान् प्रसन्न ही हुए । अतः सामग्री आदि के विषय में यदि भगवान् की कोई विशेष आज्ञा का पालन करने में आचार्यचरणों की साधारण आज्ञा बाधित हो जाय तो श्रीमहाप्रभु अप्रसन्न नहीं होंगे । अतः सेवा की ही मुख्यता है और उसके अनुसार ही रहना चाहिए, यह अर्थ है । यहाँ भी 'मेरी पूजा में निष्ठा रखे (श्री.भा. ११/१९/२०)' इस आत्म-निवेदन के प्रकरण में आए भगवद्-वाक्य को मूल कारण जानना चाहिए । क्योंकि किसी भी विषय में सभी प्रकार से अथवा निरंतर स्थायी रहना ही परिनिष्ठा का द्योतक है ॥ ७ ॥

कदाचित् पुत्रादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे गतिमाहुः चित्तोद्वेगमिति ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

ननु भवत्वेवमल्पदुःखोपस्थितौ साक्षिवत् स्थितिः, महादुःखोपस्थितौ त्वेवं स्थितिरशक्येत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमग्रिमं वदन्तीत्याशयेनाग्रिमवतारयन्ति कदाचिदित्यादि । मूलव्याख्यानं तु स्पष्टत्वात् न कृतम्, परं तत्रायं भावः । अवश्यंभाविनो दुःखस्याप्रतीकार्यत्वात्तत्र चित्तसमाधानमेवोपायः । तच्च नानोपायैर्भवति । यथा सप्तमस्कन्धे यमप्रेतसुयज्ञबन्धुसंवादे 'अहो अमीषां वयसाधिकाना'मित्यादिना यमप्रदर्शितलोकगतिज्ञानेन सुयज्ञबन्धुनां जातम्, यथा च षष्ठस्कन्धे 'यथा वस्तूनि पण्यानि हेमादीनि ततस्ततः । पर्यटन्ति नरेष्वेवं जीवा योनिषु कर्तृष्विति जीववाक्याज्जीवस्य सर्वसाधारण्यज्ञानेन चित्रकेतुप्रभृतीनाम् । यथा च 'पित्रोः स किन्तु भार्यायाः स्वामिनोः श्वगृध्रयोः । किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयत' इति देहस्य सर्वसाधारण्यज्ञानेन पुरुरवसः । एवमन्येपि बोध्याः ।

किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि अल्पदुःख की परिस्थिति में भले ही साक्षिवत् रह लें परंतु किसी महान दुःख की परिस्थिति में तो इस प्रकार से रहना असंभव ही है अतः ऐसी शंका की निवृत्ति के लिए अग्रिम श्लोक की भूमिका 'कदाचित्' इन शब्दों से प्रभुचरण कह रहे हैं । मूलश्लोक तो स्पष्ट ही है अतः उसकी व्याख्या नहीं कर रहा हूँ परंतु उसका भाव यह है कि, अवश्यंभावी दुःख को टाला नहीं जा सकता अतः अपने चित्त का समाधान करना ही उसका उपाय है । और वह समाधान नानाविध उपायों द्वारा किया जाता है । जैसे सप्तमस्कंध में "अरे क्या आश्चर्य है कि ये मुझसे उग्र में बड़े होकर भी जीवनमरण में हर्षशोकाकुल होकर मूर्खता कर रहे हैं (श्री.भा. ७/२/३७)" इत्यादि मृत सुयज्ञ के परिवार एवं यमराज के संवाद के अंतर्गत यम के द्वारा प्रदर्शित लोकगति के ज्ञान से जैसे मृत सुयज्ञ के परिवार जनों के चित्त का समाधान हुआ और जैसे षष्ठस्कंध में "सुवर्ण आदि पदार्थों का संबंध भी मनुष्य के साथ क्षणिक ही होता

है । जब तक जिस वस्तु से जिसका संबंध रहता है तभी तक उस वस्तु से ममता भी रहती है (श्री.भा. ६/१६/६)" इस वाक्य द्वारा सर्वसाधारण ज्ञान से 'चित्रकेतु' जैसों के चित्त का समाधान हुआ और जैसे "यह शरीर मातापिता का है या पत्नी संपत्ति ? स्वामी के द्वारा मोल ली गई वस्तु है, आग का ईंधन है, या कुत्ते का गिद्धों का भोजन है ? अपना है या सगे-संबंधियों का ? यह बहुत सोचने पर भी निश्चित नहीं होता (श्री.भा. ११/२६/१९)" इत्यादि वाक्यों से देह के सर्वसाधारण ज्ञान द्वारा जैसे पुरूरवा के चित्त का समाधान हुआ, वैसे ही अन्यो को अपने चित्त का समाधान कर लेना चाहिए ।

ते केपि नात्मनिवेदिनामुपयुज्यन्ते, भगवत्स्मरणोदासीनत्वात्, किन्तु प्रभासीयलीलायां 'नैषां बधोपाय इयानतोन्य' इत्येकादशीयभगवद्विचारानुवादवाक्यात् सा लीला यथा भक्तानां चित्तोद्वेगं विधाय, या कृता लोकमर्यादारक्षणार्थम्, अग्रे तेषां नित्यसुखदानार्थं च, तथा चित्तोद्वेगं विधाय अपिशब्दादविधाय च हरिः स्मर्तृणां प्रारब्धादिरूपाघहारको भगवांस्तद्धरणार्थं यद्यत् शुभत्वेनाशुभत्वेन वा आपाततः प्रतीयमानं करिष्यति, तत्कार्यं साक्षाद्वा केनचित् द्वारेण वा तस्य "अस्मदीश्वरस्यास्मदात्मनो भगवतस्तथैव लीला," अनेन प्रकारेणास्माकं महतोऽयस्य नाशनाय मायिकी लीलेति मत्वा साधकबाधकप्रमाणैरनुचिन्त्य चिन्तां उद्वेगजनिकां वा तज्जनितानां वा तद्रूपां वा द्रुतं शीघ्रमेव त्यजेत् । तस्याः बहुकालं स्याने कालकर्मस्वभावानां प्रबलत्वेन तथा असुरप्रवेशरूपमहोपद्रवसम्भवेन मुख्यफलप्रतिबन्धो वा विलम्बो वा स्यात्, अतो मङ्गु त्यजेदिति भावः ॥ ८ ॥

परंतु इन सभी की तुलना आत्मनिवेदियों के संग नहीं की जा सकती क्योंकि उपर बताए गये ये सभी लौकिकशोक से दुःखी हो रहे हैं एवं भगवत्स्मरण में उदासीन हैं । किंतु प्रभासक्षेत्र में की कई प्रभु की लीला के अंतर्गत "इसके अतिरिक्त इनके नाश का और कोई उपाय नहीं है (श्री.भा. ३/३/१५)" इस वाक्य के द्वारा भगवान ने भक्तों के चित्त में उद्वेग उत्पन्न करके जो लीला की वह लोकमर्यादा की रक्षा करने के लिए एवं उन यादवों को (विशेष जानकारी के लिए उपर्युक्त तीसरे स्कंध की कथा अवश्य पढ़ें जहाँ प्रभु ने यादवों का नाश भी उनके ही सुख के लिए किया है) नित्यसुख देने के लिए की है । और, इस प्रकार प्रभु चित्त में उद्वेग उत्पन्न करें या न भी करें, क्योंकि विधाय शब्द में 'अपि' शब्द जुड़ा हुआ है अतः अर्थ यह निकलता है कि भगवान उद्वेग उत्पन्न करें या न भी करें; किसी भी परिस्थिति में स्मरण करने वालों के भाग्य-आदि जैसे दुःखों को हरने वाले भगवान-हरि उन दुःखों को हरने के लिए आकस्मिक या दृश्यमान कार्य, शुभ-अशुभ जो कुछ करेंगे वह साक्षात् करें या किसी के द्वारा; यह तो उनकी लीला है यह मानकर एवं "यह हमारे आत्मारूप ईश्वर भगवान की ऐसी ही लीला है" इस प्रकार से एवं "हमारे महान पापों का नाश करने के लिए यह उनकी मायिकी लीला है" यह मानकर साधक और बाधक प्रमाणों का विचार करके उद्वेग को उत्पन्न करनेवाली चिंता हो अथवा उद्वेग से उत्पन्न होने वाली चिंता हो अथवा तो उद्वेगरूप हो, सभी चिंताएँ शीघ्र त्याग देनी चाहिए । यदि चिन्ता बहुत समय तक रह जाय तो काल-कर्म-स्वभाव के प्रबल होने के कारण चिन्ता के द्वारा आसुरीभाव प्रविष्ट हो जायेगा और बड़ी समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी । इससे मुख्यफल में या तो प्रतिबंध होगा या फिर विलंब हो जायेगा अतः चिन्ता शीघ्र ही त्याग देनी चाहिए, यह भाव है ॥ ८ ॥

नन्विदमखिलमज्ञक्यमिव भाति । तथाहि । श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चान्निवेदनवार्ता । तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनदिगपि ।

एवमत्र पुष्टिमार्गस्थस्य पूर्वं सेवोपकरणकरणकर्तृनिवेदनविषयकचिन्तानिवृत्त्युपायत्वेन स स विचार उपदिष्टः, ततः सेवाकृत्यविरुद्धतया साक्षिवत् स्थित्युपदेशेन सेवायां स्थितेश्चोपदेशेन वैराग्यरागौ विषयभेदेन व्यवस्थापितौ । चित्तोद्वेगे च लीलाविचार उपदिष्टः, तदिदानीं सर्वमज्ञक्यम्, कालादिकृतगुणक्षोभेण चित्तस्थैर्यस्य दुर्घटत्वात्, अतोऽयमुपदेशोनुपदेश एवेत्याशाङ्क्य कृपया तत्सिद्धयर्थमुपायमधुनोपदिशन्तीत्याशयेनाग्रिममवतारयन्ति नन्विदमित्यादि । तदेव दुरापमिति । श्रवणं हि भगवद्वाचकपदवाक्यानां गुरुमुखाच्छक्तितात्पर्यनिर्धारः । तत्पूर्वकमन्यस्याग्रे कथनं कीर्तनम् । तेषामर्यानुसन्धानं स्मरणम् । तदिदानीं सर्वतद्विदो गुरोर्दौर्लभ्येन श्रवणस्य दुरापत्वे कीर्तनस्मरणयोरपि तथात्वम् । तदभावे भगवत्स्वरूपज्ञानाभावात् पादसेवनादीनामपि भगवद्विषयत्वाभावात्तथात्वम् । एवं कालादिभिः प्रतिबन्धकैः प्रत्येकमपि द्रष्टव्यम् ।

इस प्रकार यहाँ पुष्टिमार्गीय जीव को भगवत्सेवा में उपयोगी साधनों को जुटाने की चिंता, उसके द्वारा किए गए निवेदन-विषयक चिन्ताओं की निवृत्ति के उपाय रूप में उपर्युक्त विचार उपदिष्ट कर दिए गये; इसके पश्चात् सेवाकृति से विरुद्ध न जाते हुए साक्षिवत् रहने के उपदेश से सेवा में रहने का प्रकार उपदिष्ट किया गया और 'वैराग्य' एवं 'राग' के विषयभेद से व्यवस्था बताई गई । (अर्थात्

लौकिकविषयों में वैराग्य रखते हुए साक्षिवत् देखते रहना चाहिए एवं अलौकिक विषयों में राग अर्थात् स्नेह रखना चाहिए । अलौकिक विषयों में साक्षिवत् देखते रहने का उपदेश नहीं है ।) और चित्त में उद्वेग होने पर प्रभु-लीला का अनुसंधान रखना उपदिष्ट किया गया । परंतु ये सभी उपदेश वर्तमान में पालन करने कठिन हैं । क्योंकि काल-आदि के द्वारा जीव में सत्त्व-रज-तम इत्यादि प्राकृत गुणों के द्वारा व्यवधान उत्पन्न हो जाने से चित्त की स्थिरता ही बड़ी कठिन है । अतः यह उपदेश, उपदेश ही नहीं है, ऐसी आशंका होने पर प्रभुचरण कृपापूर्वक अब इसका उपाय अग्रिम श्लोक के विवरण में 'नन्विदम्' इत्यादि शब्दों से लेकर 'दुरापम्' इस शब्द तक की पंक्ति से आरंभ कर रहे हैं । इस पंक्ति से यह समझना चाहिए कि, भगवान को बताने वाले पदवाक्यों का तात्पर्य गुरुमुख से समझना 'श्रवण' है । श्रवण के संग-संग भगवद्-गुणों को किसी दूसरे के आगे कहना 'कीर्तन' है । उन वाक्यों का निरंतर अनुसंधान करना 'स्मरण' है । परंतु ऐसे सर्वज्ञ गुरु वर्तमान में प्राप्त होने दुर्लभ होने के कारण श्रवण प्राप्त होना भी दुर्लभ है और कीर्तन-स्मरण भी । इन सबके अभाव में भगवत्स्वरूप ज्ञान होना संभव नहीं है और अन्य दूसरी 'पादसेवन' इत्यादि भक्ति भी भगवत्स्वरूप का ज्ञान न होने से दुर्लभ है । इस प्रकार कालादि का प्रतिबंध होने के कारण प्रत्येक भक्ति दुर्लभ है, यह जान लेना चाहिए ।

अतस्तत्कृतचिन्तान्यवियोगचिन्तादिसमाहितिर्निरर्थेति विचार्य साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहुः तस्मादिति ।

साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहुरिति । साधनं श्रवणाद्यष्टकम् । फलमात्मनिवेदनम् । ते उभे एकीकृत्य स्वासाध्यत्वेन तस्यां कोटौ निक्षिप्य पूर्वोक्तस्य सर्वस्य सुसाध्यत्वं यथा भवति, तादृशं तत्सम्बन्धिसमाधानमाहुरित्यर्थः । समाधानं व्याकुर्वन्तः शरणागतेः समाधायकत्वे बीजमाहुः यस्मादित्यादि । भक्तिमार्गं प्रवेशे तत्र रुच्यादौ चानुग्रह एव हेतुरिति वरणश्रुत्या भक्तिहेतुनिर्णये व्युत्पादितम् । तस्मिन् सति यदा सेवाप्रतिबन्धसम्भवः, तदा प्रारब्धकालस्वभावानामेव हेतुत्वम् । तन्निवृत्तिस्तत्सर्वनियामकेन प्रभुणैव भवति, नान्यतः । तत्र च शरणागतिरेव साधनम् । 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच' इति भगवद्वाक्यात् । 'दिवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किंकरो नायमृणी च राजन् । सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्य'मित्येकादशस्कन्धे करभाजनवाक्याच्च भगवतः शरण्यता ।

अब 'साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहुः' इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । यहाँ श्रवण-आदि आठ प्रकार की भक्ति तो 'साधन' हैं एवं आत्मनिवेदन 'फल' है । जीव के लिए ये सभी असाध्य हैं अतः साधन एवं फल इन दोनों को एक करके इन्हें अशक्य कोटि में रखते हुए पहले कहे गये समस्त उपदेश जिस प्रकार से सुसाध्य बन जाएँ, वैसा समाधान अब प्रभुचरण कह रहे हैं, यह अर्थ है । उस समाधान की व्याख्या करते हुए 'शरणागति' से किस प्रकार समाधान हो जायेगा ? इसका हेतु प्रभुचरण 'यस्मात्' इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । भक्तिमार्ग में प्रवेश प्राप्त होना एवं उसमें रुचि-आदि होना, इन सब में मूलकारण भगवद्-अनुग्रह ही है, यह बात भक्तिहेतुनिर्णय ग्रंथ में वरणश्रुति द्वारा (अर्थात् यमेवैष वृणुते (कठो. १/२/२३) व्युत्पादित की गई है । भक्तिमार्ग में प्रवेश होने पर जब सेवा में प्रतिबंध होता हो, तब उस प्रतिबंध में प्रारब्ध, काल और स्वभाव ही मूल कारण है । इनकी निवृत्ति तो इन सभी के नियामक प्रभु द्वारा ही होती है, अन्य किसी के द्वारा नहीं । अतः यहाँ शरणागति ही साधन है । क्योंकि 'सभी धर्मों का त्याग करके मात्र मेरी शरण आ जा । मैं तुझे समस्त पापों से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर (भ.गी. १८/६६)' एवं एकादशस्कंध में आए 'हे राजन् ! जो मनुष्य कर्म वासनाओं का परित्याग करके शरणागतवत्सल भगवान मुकुन्द की शरण में आ गया है वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुंबियों आदि सबके ऋण से मुक्त हो जाता है (श्री.भा. ११/६/४१)' इस करभाजन के वाक्य द्वारा भगवान ही एकमात्र शरण हैं ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।

वदद्भिरैवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

यस्मादुक्तीत्या स्वतः सर्वमशक्यमतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदयम् । भक्तिमार्गीयान् सर्वानंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं स्वाशक्तिं च स चेत् पश्यति, तदा सर्वात्मना तथा भवति । नित्यमिति नैरन्तर्यमुच्यते ।

तस्मादङ्गीकृतस्य जीवस्योक्तीत्या अशक्तौ शरण्यत्वात् प्रभुरेव सर्व सम्पादयिष्यतीत्याचार्याणामाशय इत्यर्थः ।

एतेनाष्टमस्कन्धप्रतिपादित आपत्सु हरिसंस्मृतिरिति भगवद्भक्तिसम्पादक आपद्धर्मोपि गजेन्द्रस्येवास्यापि सिध्यतीत्यपि बोध्यम् । नन्वेवं सति प्रथमत एवेदं साधनं कुतो नोपदिष्टमित्यत आहुः भक्तीत्यादि । सर्वात्मना तथा भवतीति । श्रीकृष्णाश्रयोक्तरीत्या सर्वेषां सहकारिणामतथात्वमसहायत्वं च निश्चित्य, विवेकादीनां भक्त्यन्तानां साधनानां स्वासाध्यत्वं च निश्चित्य, दीनभावेन सर्वैः प्रकारैः शरणागतिर्भवति । तथा च प्रागेवोपदेशार्हत्वेपि यद्धुना सर्वान्त उपदिष्टम्, तत् सर्वात्मना सर्वैः प्रकारैर्भवनाथमित्यर्थः ।

अतः अंगीकृत जीव यदि कमी अशक्त हो जाय तब पूर्व में कही रीति से शरणागत होने पर प्रभु ही उसके समस्त कार्य संपादित करेंगे, यह आचार्यचरणों का आशय है - यह अर्थ है । उपर्युक्त वाक्यों के अनुसार यह समझना चाहिए कि जैसे श्रीमद्-भागवत के आठवें स्कंध में बताया गया है कि, आपत्तिकाल में गजेन्द्र को जिस प्रकार से उसके पूर्वजन्म की हरिसंस्मृति बनी रही और जिस प्रकार वह आपत्तिकाल उसके लिए भगवद्-भक्ति को सिद्ध करने वाला बन गया और उसे प्रभुप्राप्ति हो गई (देखें श्री.भा. ८/३/१) वैसे ही यहाँ प्रभु के शरणागत जीव को भी प्रभु सभीकुछ सिद्ध करेंगे, यह प्रभुचरण बोधित कर रहे हैं । यहाँ एक शंका यह होती है कि, यदि ऐसा ही है तो सर्वप्रथम शरणागति का ही उपदेश क्यों नहीं दे दिया गया ? पूर्व में दूसरे उपदेशों की क्या आवश्यकता थी ? तो इसका समाधान प्रभुचरण 'भक्ति' शब्द से आरंभ करके 'सर्वात्मना तथा भवति' तक की पंक्ति द्वारा दे रहे हैं । इस पंक्ति का भावार्थ यह है कि 'कृष्णाश्रयग्रंथ' में कही रीति के अनुसार जब जीव यह निश्चय लेता है कि शरणागति के अतिरिक्त कोई भी अन्य साधन उसका सहकारी या सहायक नहीं हैं एवं विवेक-धैर्य-आश्रय आदि से लेकर भक्तिपर्यंत समस्त साधन उसके लिए असाध्य हैं, तब ही वह दीनभाव से सभी प्रकार से शरणागति लेता है, यह अर्थ है । और, यद्यपि इन सभी का उपदेश आरंभदशा में ही दिया जा सकता है परंतु अभी इस समय संपूर्ण उपदेश करने का कारण ही यह है कि, जीव उपर्युक्त समस्त साधनों की विफलताओं का भलीभाँति विचार करके शरणागति की ओर अग्रसर हो ।

अन्यथा कालेनासुरधर्मप्रवेशः स्यात् । अन्तःकरणे तथाभावेऽतथाभावे वा तथा वदनमावश्यकमिति ज्ञापयितुं सततमेवं वदद्भिरित्युक्तम् । एवं सति लोकशिष्याप्यानुषङ्गिकी सिध्यति । एवमुक्तप्रकारेण सेवापरतया स्येयमित्यर्थो वा ।

आसुरधर्मप्रवेशः शत । बाह्यमुख्यजनकाहङ्कोरप्रवेशः । तथा वदनमावश्यकमिति वाचेस्तेजोमयोत्पन्न वदनाक्रयं । वैखरीत्वेपि वक्तुः पश्यन्ती प्रकाशयन्त्यन्तःकरणमासुरधर्मात् परावर्तयेदत आवश्यकम् । परोपकारायापि भवेत्, अतश्च तथेति बोधनायाहुः एवं सतीत्यादि । एवं सत्याश्रयस्यैव मुख्यता आयातीति सेवावश्यकत्वबोधकपूर्वग्रन्थविरोध इत्यतः प्रकारान्तरेण व्याकुर्वन्ति एवमुक्तेत्यादि । एवं वदद्भिःसर्वचिन्ताराहित्यपूर्वकं सेवापरतया स्येयम् । तथा चाङ्गत्वेनैवात्र शरणोपदेशो, न तु मार्गत्वेन, अतो न विरोध इत्यर्थः ।

अब आसुरधर्मप्रवेशः इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । 'आसुरधर्म' का अर्थ है - वहिर्मुखता से उत्पन्न अहंकार का प्रवेश हो जाना अब तथा वदनमावश्यकम् इन शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । (इससे आगे की पंक्तियों का अर्थ समझने से पहले यहाँ वाणी के विषय में कुछ शास्त्रोक्त बातें जान लेनी आवश्यक हैं । वाणी के चार प्रकार बताए गये हैं । वे हैं - वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा। संक्षेप में यह समझे कि, मनुष्य अपने विचारों को अपने शब्दों के माध्यम से आकार देता है, तो इसे हम वाणी कहते हैं । हम जब बोल रहे होते हैं, तब उस वाणी को वैखरी-वाणी कहा जाता है । यह वाणी शरीर के बाहर प्रकट होती है परंतु शरीर के अंदर प्रकट होने वाली वाणी 'मध्यमा' एवं 'पश्यन्ती' है । 'परा' वाणी जीवगत नहीं मानी गई है । यहाँ श्रीपुरुषोत्तमजी 'श्रीकृष्णः शरणं मम' बोलने के विषय में वाणी की महत्ता समझा रहे हैं) वाणी का स्वरूप तेजोमयी है और बोलने की प्रक्रिया में भले ही वह वैखरी बन जाए तथापि शरीर के भीतर रहने वाली पश्यन्ती-वाणी जीव के अन्तःकरण को प्रकाशित करती है और अन्तःकरण को आसुरधर्म से हटा देती है । अतः 'श्रीकृष्णः शरणं मम' बोलना आवश्यक है । इस अष्टाक्षर महामंत्र को बोलते रहने से वह अन्य दूसरे जीवों के लिए भी परोपकारी सिद्ध होगा, इस कारण प्रभुचरण इस बात को एवं सति इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । किंतु इस परिस्थिति में 'आश्रय' की ही मुख्यतः सिद्ध हो जाती है और सेवा को आवश्यक बताने वाले पूर्वग्रंथ 'सिद्धांतरहस्य' से इसका विरोध हो जाता है अतः इसी भाव को प्रभुचरण दूसरे प्रकार से 'एवमुक्त्या' इत्यादि शब्दों से विस्तारित कर रहे हैं । इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, इस प्रकार 'अष्टाक्षर' बोलते हुए समस्त चिंताओं से रहित रहते हुए भगवत् सेवापर होकर रहना चाहिए । और इस शरणागति का उपदेश भी सेवा के अंगभूतकार्य के अर्थ में है ।

पृथक्मार्ग के रूप में नहीं अतः विरोध नहीं है, यह अर्थ है ।

नन्विदमपि न स्वशक्यमित्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुत' इति श्रुतेर्मे मतिरित्येव, एवंप्रकारिकैवेत्यर्थः ।

स्वमत्या निष्कर्षकथनस्य तात्पर्यमाहुः नन्वित्यादि । इदं सर्वात्मना शरणगमनमपि न स्वशक्यम्, 'सोहं तवाङ्घ्रियुपगतोस्म्यसतां दुराप'मित्यक्रूरस्तुतौ तथा सिद्धत्वादित्याशङ्क्य 'यमेवैष वृणुत' इति वरणलभ्यत्वबोधकश्रुतेर्मे मतिरेवंप्रकारिकैव । भगवता यदानुगृह्यते, तदैव सर्वात्मना शरणागतिर्भवति, नान्यथा । 'तच्चाप्यहं भगवदनुग्रहमीश मन्ये पुंसो भवेद्यहिं संसरणापवर्गः । त्वय्यञ्जनाभ सदुपासनया मतिः स्या'दिति तत्रैव वाक्यशेषात् ।

श्रीमदाचार्याचरणों को स्वमति से कहे इस निष्कर्षवाक्य का तात्पर्य प्रमुचरण 'नन्विदम्' इत्यादि शब्दों द्वारा समझा रहे हैं । इस पंक्ति का भावार्थ यह है कि, सभी प्रकार से ऐसी शरणागति करनी भी जीव के लिए शक्य नहीं है अतः 'दुष्टों के लिए दुर्लभ ऐसी आपके चरणकमलों की छत्रछाया में मैं आपकी कृपा के कारण ही आया हूँ (श्री.भा. १०/४०/२८)" इन वाक्यों में अक्रूरजी द्वारा भगवान की स्तुति के द्वारा शरणागति की दुर्लभता सिद्ध है । इस कारण "जिसको यह परमात्मा स्वीकार कर लेता है उसी को प्राप्त होता है (कठो १/२/२३)" इस भगवद्-वरण को बताने वाली श्रुति के अनुसार श्रीमदाचार्य कह रहे हैं कि, 'मेरी मति तो यही है कि भगवद्-अनुग्रह के बिना शरणागति भी संभव नहीं है ।' अर्थात् जब भगवान अनुग्रह करते हैं तब ही सभी प्रकार से शरणागति हो सकती है, अन्यथा नहीं । क्योंकि उपर्युक्त अक्रूरजी के स्तुतिवाक्य के पश्चात् के "इस शरणागति को मैं आपकी ही कृपा मानता हूँ । क्योंकि 'हे पंथनाभ ! जब जीव के संसार से मुक्त होने का समय आता है, तब चित्तवृत्ति आप में ही लगती है (श्री.भा. १०/४०/२८)" यह वाक्य हैं ।

तथा चास्मिन् मार्गे कृपैव साधनम्, अतः श्रुत्यनुसारेण मार्गप्रवेशतद्बुद्ध्यादिना वरणमनुमाय मदीयैरेवमेव कर्तव्यं वक्तव्यं च । यदि च न तन्निर्वाहः, तदा प्रतिबन्धकमनुमेयम् । भगवच्छास्त्रे एतदतिरिक्तस्य दृढस्य सर्वप्रतिनिधिभूतस्य साधनान्तरस्याभावात् । गीतायामन्ते एतस्यैव शोकाभावार्थमुपदेशेन तथा निश्चयात् । एतद्वाक्यान्तःस्थस्य श्रीकृष्णपदस्य भक्तसहितपुरुषोत्तमवाचकतायाः सुप्रसिद्धत्वेन मम स एव शरणमिति तस्मिन् स्वरक्षकत्वबोधनेन वाक्यतात्पर्यस्य तत्रैव निधरि गुरुमुखाद्भक्ते श्रवणस्य तत्पूर्वकाणामन्येषां च स्वरूपफलयोस्तत् एव सुखेन सिद्धेरिति ॥ ९ ॥

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इस मार्ग में भगवद्-कृपा ही साधन है अतः उपर्युक्त कठोपनिषद् की श्रुति के आधार पर पुष्टिभक्तिमार्ग में अपना प्रवेश होने के द्वारा एवं इस मार्ग में हमारी 'रुचि' को देखकर यह अनुमान लगाना चाहिए कि, प्रभु ने हमारा वरण कर लिया है । ऐसा अनुमान करके मेरे स्वीयजनों को उपर्युक्त उपदेशों के अनुसार ही करना चाहिए एवं अष्टाक्षर बोलते रहना चाहिए - यह श्रीमदाचार्यचरणों का कथन है । यदि तब भी निर्वाह न हो एवं असफलता हाथ लगे तब भगवान प्रतिबंध कर रहे हैं, ऐसा अनुमान लगाना चाहिए । क्योंकि पुष्टिभक्तिमार्ग में शरणागति के साधन के अतिरिक्त अन्य दूसरे किसी दृढ साधन के लिए अवकाश नहीं है । गीता के अंत में भी शोकरहित होने के लिए शरणागति का ही उपदेश है (देखें सर्वधर्मान् (भा.गी. १८/६०) । अतः यह निश्चित है । मूलश्लोक में 'श्रीकृष्ण' पद भक्तसहित पुरुषोत्तम के वाचक के अर्थ में सुप्रसिद्ध है अतः 'वे ही मेरी शरण हैं' इस प्रकार के अर्थ द्वारा 'ऐसे भक्तसहित पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण ही मेरे रक्षक हैं " इस प्रकार का तात्पर्य जब गुरुमुख से प्राप्त हो जाता है, तब ऐसे श्रवण एवं अन्य नवधामक्ति के अंगों का स्वरूप एवं फल भी शरणागति द्वारा ही सुखपूर्वक सिद्ध होता है ॥ ९ ॥

भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दाढर्यार्थमिदमुच्यते ।

अन्धस्य सूर्य इव तद्विमुखस्यात्र नार्थिता ॥ १ ॥

भक्तिमार्गसुधासिन्धोर्विचारमथनैः स्वयम् ।

स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः ॥ २ ॥

मयोज्ज्वलीकृतानीत्यं हृदि धृत्वा ब्रजाधिपम् ।

भजन्तु भक्ता येनासौ न विमुञ्चति कर्हिचित् ॥ ३ ॥

इति श्रीश्रीविद्वलदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः ।

एवं सर्वं व्याख्याय ग्रन्थकरणस्यान्ते शरणमंत्रावृत्तिकथनस्य च प्रयोजनमाहुः भक्तिमार्गं इत्यादि । भगवत्कृपया यो भक्तिमार्गो स्वकृतार्थत्वाय प्रवृत्तः, तस्य दाढ्यार्थं तदुक्तरीत्या फलावश्यंभावनिश्चयेन प्रवृत्त्यविधातार्थं इदं नवरत्नं शरणमंत्रावर्तनं चोच्यत आचार्यैरुपदिश्यते । तस्यैवोद्वेगनिवर्तनस्य प्रभूणामनन्यजनवत्सलतयावश्यकत्वात्, न तु साधारणार्थम्, तत्र हेतुः अन्धस्येत्यादि । तद्विमुखस्येति । भक्तिमार्गाद्बहिर्मुखस्य । अत्रेति । चिन्तानिवृत्त्युपायबोधकेस्मिन् ग्रन्थे । शरणमंत्रावर्तने च । तथा चार्थित्वस्य अधिकारिविशेषणत्वाद्विमुखस्य चार्थित्वाभावेनाधिकाराभावात्तदर्थं नोच्यत इत्यर्थः । एतस्य ग्रन्थस्य भगवत्सिद्धान्तसारत्वबोधनायाहुः भक्तीत्यादि ।

इस प्रकार सभी विषयों का व्याख्यान करके ग्रंथ के अंत में शरणमंत्र की आवृत्ति (अर्थात् बारबार अष्टाक्षर लेते रहना) कहने का प्रयोजन प्रभुचरण 'भक्तिमार्ग' इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । इस श्लोक का अर्थ यह है कि, भगवत्कृपा से स्वयं को कृतार्थ करने के लिए जो इस भक्तिमार्ग में प्रवृत्त हुआ है, उसकी दृढ़ता के लिए एवं भक्तिमार्ग कही रीति से फलप्राप्ति अवश्य है ही अतः उसकी प्रवृत्ति भंग न हो जाय इसके लिए इस 'नवरत्नग्रंथ' एवं 'शरणमंत्र' के आवर्तन का उपदेश आचार्यचरण कर रहे हैं । और चूँकि भगवान अनन्यजनवत्सल हैं अतः उस जीव के उद्वेग की निवृत्ति उनके लिए आवश्यक है । किंतु यह निवृत्ति केवल अनन्यजनों के लिए है, साधारण जीवों के लिए नहीं अतः प्रभुचरणों ने 'अन्धस्य' शब्दों से लेकर 'तद्विमुखस्य' शब्द तक कहा है । तद्विमुखस्य शब्द का अर्थ है - भक्तिमार्ग से विमुख । अत्र शब्द का अर्थ है - चिन्तानिवृत्ति के उपायों का बोध कराने वाले इस 'नवरत्नग्रंथ' में एवं शरणमंत्र का आवर्तन करने में भक्तिमार्ग से विमुख वे साधारण जीव अधिकारी नहीं हैं । और, दूसरा अर्थ यह भी है कि प्रभुचरणों ने यहाँ अर्थिता पद प्रयुक्त किया है, जिससे यहाँ किसी विशेष अधिकारी का बोध हो रहा है । अतः यदि उस जीव में भगवत्प्राप्ति की चाहना नहीं है तो वह अधिकारी नहीं है अतः ऐसे अनधिकारियों के लिए ये उपदेश नहीं है, यह अर्थ है । इस ग्रंथ के अंतर्गत भगवद्-सिद्धान्त का सार बताने के लिए प्रभुचरणों ने 'भक्ति' इत्यादि शब्दों से लेकर 'श्रीमदाचार्यपण्डितैः' तक की पंक्ति द्वारा कहा है ।

श्रीमदाचार्यपण्डितैरिति । मयूरव्यंसकादिसमासः । पण्डितत्वं च न केवलं सदसद्विवेकबुद्धिमत्त्वम्, शास्त्रोत्थनुद्धिमत्त्वं वा । किन्तु 'पण्डितो बन्धमोक्षवि'दित्येकादशो भगवद्वाक्यात्, 'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः । ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधा'इति गीतायां भगवद्वाक्याच्च तादृशधर्मवत्त्वं विवक्षितम्, अन्यथा भक्तिमार्गविचारस्यासम्भवात् । 'भगवान् ब्रह्म कात्स्न्येने'ति द्वितीयस्कन्धवाक्येन भक्तिमार्गस्य सर्वश्रुतिसारत्वनिश्चयादिति । स्वकृतविवरणप्रयोजनमाहुः मयेत्यादि । तथा चैतदर्थं विवरणमित्यर्थः ॥ १० ॥

'श्रीमदाचार्यपण्डित' शब्द में मयूरव्यंसक वर्ग का समास है । केवल सद्-असद् का बुद्धिपूर्वक विवेचन कर देना ही अथवा तो शास्त्रबुद्धि रखना ही पांडित्य नहीं है परंतु 'बंधन एवं मोक्ष को जानने वाला ही पंडित है (श्री.भा. ११/१९/४१)' इस एकादशस्कंध में भगवद्-वाक्य के द्वारा एवं 'जिसके सभी कर्म इंद्रियतृप्ति की कामना से रहित हैं, उसे 'पंडित' कहा जाता है (म.गी. ४/१९)' इत्यादि गीता में कहे भगवद्-वाक्य के द्वारा पंडित में ऐसे धर्म होने आवश्यक हैं । यदि श्रीमदाचार्यचरणों में ऐसा पांडित्य न होता तो भक्तिमार्ग का विचार करना भी असंभव था । क्योंकि 'भगवान् ब्रह्मा ने संपूर्णरूप से समस्त वेदों का तीन बार अनुशीलन करके यही निश्चय किया कि, जिससे भगवान के प्रति प्रेम प्राप्त हो, वही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है (श्री.भा. २/२/३४)' इस द्वितीय स्कंध के वाक्य द्वारा निश्चय होता है कि यह पुष्टिभक्तिमार्ग समस्त श्रुतियों का सार है एवं श्रीमदाचार्य ऐसे भक्तिमार्ग के प्रवर्तक हैं । प्रभुचरणों ने अपने द्वारा किए गये इस ग्रंथ के विवरण का प्रयोजन 'मया' इत्यादि शब्दों से कहा है । भक्तजनों के हितार्थ प्रभुचरणों ने इस ग्रंथ का विवरण किया है, यह अर्थ है ॥ १० ॥

एवं चात्र एतत् सिद्धम् । भगवत्सैवैकतानचित्तेन यथाशक्ति सेवां कुर्वता दुःसङ्गवर्जनपूर्वकं स्वस्य स्वपरिकरस्य च भगवदीयत्वमनुसन्धानेन पूर्वोक्तरीत्या सर्वविधचिन्तास्त्यजता सर्वत्र स्वाशक्त्यनुसन्धानेन भगवत एव शरणत्वमनुसन्धानेन यदा स्वीयते, तदा उद्वेगाख्यप्रतिबन्धनिवृत्त्या सेवाया आधिदैविकीत्वं सम्पद्यते । तस्मादुक्तरीत्या सेवापूर्वकं सर्वात्मना शरणगमनमेव परमं साधनमिति ।

नवरत्नभासनकृतां वचसां मम यत्नपूर्वकमुपासनतः ।

ब्रजरत्नहृद्यकृपयास्तु सुखादसपत्नचैतससपत्नहतिः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्माचार्यचरणैकतानस्य पीताम्बरस्य तनुजेन पुरुषोत्तमेन

कृतो नवरत्नविवृतिप्रकाशः सम्पूर्णः ।

### श्रीपुरुषोत्तमजीकृतटीका

इस प्रकार इन उपर्युक्त विवरणों से यह सिद्ध हुआ कि, एक भगवद्-सेवा में चित्त लगाकर यथाशक्ति सेवा करते हुए दुःसंगत्यागपूर्वक और स्वयं में एवं परिवारजनों में भगवदीयता के अनुसंधान से एवं पूर्व में कही रीति द्वारा समस्त प्रकार की चिन्ता त्यागते हुए और सर्वत्र अपनी असमर्थता एवं भगवान की ही शरणागति के अनुसंधान से जब जीवनयापन किया जाता है, तब उद्वेगरूप प्रतिबंध की निवृत्ति द्वारा सेवा में आधिदैविकता संपादित होती है । अतः उपर्युक्त रीति के अनुसार सेवा करते हुए सभी प्रकार से शरणागति ही परमसाधन है ।

नवरत्न-ग्रंथ को प्रकाशित करनेवाले इन (प्रमुचरणों के) वचनों की मैंने यत्नपूर्वक उपासना की है ।

(अतः) ब्रजभक्तों के हृदिस्थ श्रीकृष्ण की कृपा से मेरे युक्तविचार मेरे चित्त में स्थापित हों। एवं अयुक्तविचार सुखपूर्वक नष्ट हो जाएँ

॥ १ ॥

यह श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणों में एकनिष्ठ पीतांबररात्मज 'पुरुषोत्तम' द्वारा किया गया 'नवरत्नविवृतिप्रकाश' संपूर्ण हुआ ।



# नवरत्नम् ।

श्रीविठ्ठलेश्वरविरचितप्रकाशसमेतम् ।



चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पदाम्बुजरेणवः ।  
स्वीयानां तान् निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥ १ ॥

ननु भगवदीयानां कथं चिन्तोद्भवः । इत्यम् । आत्मनिवेदिनो हि भगवद्भजनार्हाः, नेतरे ।

श्रीकृष्णाय नमः ।

# नवरत्नम् ।

श्रीविठ्ठलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणी ।



चिन्तात्रयनिवृत्त्यर्थमुद्भिन्ननवरत्नकाः ।

समुज्ज्वलीकृततदः प्रसीदन्तुभये मयि ॥ १ ॥

नवरत्नप्रकाशे । चिन्तासन्तानेति । यत्पदाम्बुजरेणवः समाश्रिता देहेन्द्रियादिकं शोधयन्ति, (वासनात्मकं लिङ्गं नाशयन्ती) त्यन्तःकरणशोधनद्वारा चिन्तानां बक्ष्यमाणानां सन्तानो बक्ष्यमाणप्रकारेण तन्निवर्तनेपि कुसृष्टयुद्भावनं तद्धन्तार इत्यर्थः । ग्रन्थे चिन्ताः स्वयमेव निवर्तयिष्यन्ति, चित्ताशुद्ध्या कुसृष्टयुद्भावनं तु चरणरेणुसमाश्रयनिवर्त्यमिति भावः । नन्विति । किंप्रकारकचिन्तोद्भवः, सम्भवतीति शेषः । इत्यमिति । ग्रन्थे बक्ष्यमाणास्तिस्वचिन्ता भगवदीयानामपि हीनमध्यमाधिकारिणां सम्भवन्तीत्यर्थः । ग्रन्थाद्भिन्नामप्येकां चिन्तां पूर्वोक्तेषु सम्भावितां स्वयमेव प्रमाणवाक्यैः समाधातुमाहुः आत्मनिवेदिनो हीति । एतन्निरासस्य प्रमाणवाक्यैः स्पष्टत्वान्मूलेऽकथनमिति भावः ।

तीन प्रकार की चिन्ता की निवृत्ति के लिए जिन श्रीमहाप्रभु ने नवरत्न प्रकट किए, एवं जिन श्रीविठ्ठल ने उन्हें भलीभाँति उज्ज्वल किया, वे दोनों मुझ पर प्रसन्न हों ।

अब श्रीमत्प्रभुचरणों के नवरत्नप्रकाश में चिन्तासन्तान पद की व्याख्या की जाती है । जिनके चरणकमलों की रेणु आश्रितजनों के देह-इन्द्रिय आदि को शुद्ध कर देती है, (अर्थात् देह-इन्द्रिय के वासनात्मक स्वरूप को नष्ट कर देती है) और इस प्रकार अन्तःकरण के शोधन द्वारा आगे कही जानेवाली चिन्ताओं की सन्तान, आगे कहे जाने वाले प्रकार द्वारा निवृत्त हो जाने पर भी, इन चिन्ताओं से भविष्य में उत्पन्न होने वाली जो कुसृष्टिरूप चिन्ताएँ हैं, उनको नष्ट करने वाली श्रीमदाचार्य चरणकमलों की रेणु है, यह अर्थ है । श्रीमदाचार्यचरण इस ग्रंथ में चिन्ताओं को तो स्वयं ही दूर करेंगे परंतु चित्त की अशुद्धि के कारण उत्पन्न होने वाली चिन्ताओं की कुसृष्टि तो श्रीमदाचार्यचरणकमलों की रेणु के आश्रय द्वारा ही दूर होगी, यह भाव है । अब ननु इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । इस पंक्ति का अर्थ है - भगवदीयों को किस प्रकार की चिन्ता उत्पन्न होती है ? । इत्यम् इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि, इस ग्रंथ में आगे कही जाने वाली तीन प्रकार की चिन्ता भगवदीयों को भी हीन मध्यमाधिकार के भेद से होती है । परंतु ग्रंथ से भिन्न एक प्रकार की चिन्ता



इन तीनों अधिकारियों को हो सकती है। (देखें प्रभुचरणों की टीका के अंतर्गत 'तत्र च' से लेकर 'इतरेण वा' तक की पंक्ति का अनुवाद) जिसका समाधान करने के लिए प्रभुचरण स्वयं ही प्रमाणवाक्यों द्वारा आत्मनिवेदिनो हि इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। (टीकाकार का तात्पर्य वहाँ यह है कि यो तो इस नवरत्नग्रंथ में तीन प्रकार की चिंताओं अर्थात् आधिदैविक, आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक चिंताओं का निवारण बताया गया है, जो तीनों प्रकार के अधिकारियों को हो सकती है परंतु इन तीन प्रकार की चिंताओं से भिन्न एक चौथे प्रकार की चिंता भी इन्हें हो सकती है, जिसका समाधान प्रभुचरणों ने स्वयं एकादश-स्कंध के प्रमाणवाक्यों द्वारा किया है। वह चिन्ता यह है कि सर्वस्व निवेदन कर देने के पश्चात् अब देहनिर्वाह कैसे करना? क्या समर्पित किए धन से? अथवा असमर्पित धन से? यह अर्थ है।) ऐसी सर्वस्व समर्पण के पश्चात् देहनिर्वाह के लिए होती चिन्ता का तो एकादशस्कंध के "दारान् सुतान् (श्री.भा. ११/३/२८)" एवं 'धर्मः मनुष्याणां (श्री.भा. ११/१९/२४)" इत्यादि प्रमाणवाक्यों से ही निराकरण हो जाता है अतः श्रीमदाचार्यचरणों ने मूलग्रंथ में इस चिंता का उल्लेख नहीं किया है, यह भाव है।

तत्र चैहिकपारलौकिकयोरर्थयोर्नावशिष्टं किञ्चिदसमर्पितम्। एवं सति देहादिनिर्वाहः केन कार्यः, किं निवेदितार्थेन, उत इतरेण वा। तत्र नाद्यः। तदीयार्थस्य तदिच्छां विना ग्रहीतुमशक्यत्वात्, इच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वात्। वस्तुतस्त्विच्छायाभिमपि सत्यां तदुपयोगोऽनुचितः सेवकस्य। न च तदीयानां देहादीनां तदीयार्थेन पोषणं न दोषायेति वाच्यम्। स्वतस्तथाकृतेर्दोषावहत्वात्तदिच्छायाश्च ज्ञातुमशक्यत्वादित्युक्तम्। न द्वितीयः, अस्वधर्मत्वात्।

तत्र चेति। निवेदने जाते सत्त्वैहिकसुखसाधकानि स्त्रीपुत्रवित्तादीनि पारलौकिकसुखसाधकान्यग्निहोत्रादिकर्माणि भगवदीयान्येव जातानीत्यर्थः। एवं सतीति। वित्तसमर्पणे कृते सतीत्यर्थः। देहादीति। आदिपदेन गृहादिकम्। तथा च गार्हस्थ्यनिर्वाह इत्यर्थः। इतरेणेति। निवेदनात् पूर्वमेव स्थापितेनानिवेदितेनेत्यर्थः। अस्वधर्मत्वादिति। निवेदितस्य देहादेस्तदीयार्थेन पोषणं दोषावहमित्युक्तम्। अनिवेदितेन च पोषणमस्वधर्म इत्यर्थः।

अब तत्र च इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। इस पंक्ति द्वारा प्रभुचरण यह कहना चाह रहे हैं कि, निवेदन हो जाने पर लौकिकसुख के साधक स्त्री-पुत्र-वित्त आदि एवं अलौकिक सुख के साधक अग्निहोत्र कर्म-आदि सभी भगवद्मय हो जाते हैं, यह अर्थ है। एवं सति इत्यादि शब्दों का अर्थ है, - धन का समर्पण कर देने के पश्चात् अब देह का निर्वाह कैसे करना? अब देहादि शब्द की व्याख्या कर रहे हैं। देहादि में प्रयुक्त आदि पद से गृह एवं उससे संबंधित वस्तुओं का अर्थ लेना चाहिए। इसी प्रकार गृहस्थी का निर्वाह कैसे करना? यह भी अर्थ लेना चाहिए। इतरेण शब्द का अर्थ यह है कि, क्या निवेदन करने के पहले जो अनिवेदित धन है, क्या उससे निर्वाह करना चाहिए? अस्वधर्मत्वात् इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं। भगवान से अपने देहादि का पोषण करना दोषयुक्त है एवं अनिवेदित वस्तुओं से स्वयं का पोषण करना अस्वधर्म है।

निवेदितस्यार्थस्य स्थित्याद्यर्थं स्वस्य विचारस्याप्यनुचितत्वात्। तदभिमाने तत्सम्भवात्।

दूषणान्तरमप्याहुः निवेदितस्यार्थस्येति। निवेदितपदार्थस्य देहगोहादेः स्थितिरादिपदेन तत्सम्बन्धीनि गृहादिकार्याणि विवाहादीनि च तदर्थं स्वस्य विचारोप्यनुचितः। तत्र हेतुः। तदभिमाने इति। स्थापनीये सतीति शेषः। देहे स्वकीयत्वाभिमाने स्थापनीये सत्येतादृशो विचारः सम्भवति। एतस्य तु देहे भगवदीयत्वमेव सम्पादनीयम्, अतः स्वस्य तद्विचारोप्यनुचितः, भगवानेव विचारयिष्यतीति स्वस्येत्युक्तम्। तथा च देहस्थित्याद्यर्थं पूर्वमेव किञ्चित् पदार्थानिवेदनं नोचितमित्यर्थः।

अन्य दूसरे प्रकार के दोष को प्रभुचरण निवेदितस्यार्थस्य इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं। निवेदित हो चुके पदार्थ से देह-घर आदि की व्यवस्था एवं 'आदि' पद के द्वारा देह-घर से संबंधित दैनंदिनी गृहकार्य एवं विवाह-आदि के लिए प्रयत्न करने का हमारा विचार करना भी अनुचित है। इसका कारण प्रभुचरणों ने तदभिमाने इत्यादि शब्दों से कहा है, कि इस प्रकार स्वयं प्रयत्न करने से हममें अहंकार पैदा हो जायेगा। यदि देह में स्वकीयत्व का अभिमान रह गया हो, तभी ऐसा विचार हमारे मन में आ सकता है। ऐसे निवेदित जीव को तो देह में भगवदीयता ही संपादित करनी चाहिए अतः इस प्रकार स्वयं ही उद्यम करने का विचार भी अनुचित है। यह सभी कुछ भगवान विचारेंगे - यह बताने के लिए प्रभुचरणों ने स्वस्य पद कहा है। इसी प्रकार देहनिर्वाह के लिए निवेदन करने से पूर्व ही कुछ

पदार्थ अनिवेदित रख लें, यह उचित नहीं है - यह अर्थ है ।

एवं सति देहादिनाशसम्भवेन भजनासम्भवात्तद्वैयर्थ्यापातः । मार्ग एव चायमुच्छिद्येत । अतो निवेदने भजनाधिकारः, तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः पाशा रञ्जुरिति चेत् । अत्र बदामः । “दारान् सुतान् गृहान् प्राणान् यत्परस्मै निवेदनम्” । “एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्धोस्यावशिष्यत” इत्यादिवाक्यैस्तदावश्यकम्, साक्षात् श्रीगोकुलेशभजनाधिकाररूपत्वात्, द्विजस्य वैदिककर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारवत् । (निवेदनस्य सार्थकत्वाय भजनसिद्धयर्थमा वश्यकव्यवहारार्थं निवेदितस्यैव स्वार्थं विनियोगः कार्यः ।) अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदनेऽकृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः । अपरंच । दाने हि न स्वविनियोगो, न तु निवेदने । अन्यथा निवेदितात्मादेर्भोजनं न स्यात् । अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात् । निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा, दासधर्मत्वात् । ‘उच्छिष्टभोजिनो दासा’ इत्यादिवाक्यैः । आत्मशोधकत्वाच्च ।

एवं सतीति । पक्षद्वयप्रकारेणापि देहाद्यनिर्वाहं सतीत्यर्थः । तदावश्यकमिति । वाक्येषु निवेदनकथनात् सर्वनिवेदनमावश्यकम्, नतु पदार्थविनियोगेन बाधितमित्यर्थः । बाधितत्वे भगवान्न वदेदिति भावः । साक्षादिति । भजने सर्वाधिकारत्वोक्तावपि सत्त्वव्यवहितस्यैव भजने तथा । साक्षात् पुरुषोत्तमभजने तु निवेदिनामेवाधिकार इति भावः । अन्यथेति । निवेदितपदार्थस्य स्वयमग्रहणे दारानुपयोगोपि प्राप्येत, तथा च न तयेत्यर्थः । दाने हीति । पुत्रवित्तादिकं निवेदितम्, न तु दत्तमित्यर्थः । निवेदितोपभोगे प्रकारकथनायाहुः निवेदितानामित्यारभ्य शोधकत्वादित्यन्तम् । तथा चेयं चिन्ता तु प्रमाणवाक्यैर्युक्तिभिः परिशीलितैर्निजाचार्यपदाम्बुजरेणुसमाश्रयकृतचित्तशुद्धेः कुसृष्टयनुद्भावनेन च निवर्तते ।

एवं सति शब्दों का अर्थ है - इस प्रकार दोनों प्रकार के पक्षों से भी देहनिर्वाह करना असंभव है, तो ऐसी परिस्थिति में क्या करना ? (प्रभुचरणों की मूल टीका को ध्यान से पढ़ें । ज्ञात होगा कि उन्होंने ‘निवेदित पदार्थों से देहनिर्वाह करना या अनिवेदित पदार्थों से ?’ इस प्रकार से दो पक्ष प्रस्तुत किए हैं । दोनों ही पक्षों से देहनिर्वाह करने में समस्या उत्पन्न हो रही है । टीकाकार यहाँ दोनों पक्षों की बात से यही बताना चाह रहे हैं।) अब तदावश्यकम् शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । उपर्युक्त श्रीमद्-भागवत के “दारान् सुतान् .....” इत्यादि श्लोक में प्रभु को निवेदन करना कहा गया होने से समस्त वस्तुओं का निवेदन आवश्यक है । निवेदन करने के पश्चात् भगवद्-भुक्त पदार्थों से यदि हम अपने देह-गेह का पोषण करें अर्थात् उन भगवद्-युक्त पदार्थों का विनियोग यदि हमारे देह-गेह में होता हो, तो इससे हमारा निवेदन बाधित नहीं होता । यदि इस प्रकार अपने देह-गेह के लिए उन भगवद्-युक्त पदार्थों का विनियोग करना बाधित होता तो भगवान् ऐसा कहते ही नहीं । अब साक्षात् पद की व्याख्या कर रहे हैं । यद्यपि भगवान् का भजन करने का अधिकार सभी जनों का कहा गया है परंतु फिर भी शरीरधारी ही भगवान् का साक्षात् भजन कर सकते हैं और साक्षात् पुरुषोत्तम के भजन का अधिकार तो आत्मनिवेदियों का ही है, यह भाव है । अन्यथा शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । अन्यथा इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि, यदि समस्त वस्तुओं का भगवान् में समर्पण करने के पश्चात् उन पदार्थों को हम स्वयं ग्रहण नहीं करेंगे तो फिर विवाहोपरांत पत्नी भी स्वयं के लिए उपयुक्त नहीं रह जाती है अतः ‘निवेदित पदार्थ का उपयोग नहीं करना’ ऐसा नहीं है, यह अर्थ है । अब दाने हि इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । पुत्र-धन आदि प्रभु को निवेदित किए गये हैं, दान नहीं किए गये हैं, यह अर्थ है । अतः निवेदित पदार्थों का उपभोग कैसे करना, यह प्रभुचरण ‘निवेदितानां’ इत्यादि शब्दों से आरंभ करके ‘शोधकत्वात्’ इस शब्द तक कह रहे हैं । अतः इस प्रकार से यह चिन्ता इन प्रमाणवाक्यों के द्वारा, उपर्युक्त युक्तियों के द्वारा, इनके परिचितन द्वारा और निजाचार्य श्रीमहाप्रभुजी के चरणकमलों की रेणु का मलीमौति आश्रय करने के द्वारा शुद्ध हुए चित्त से एवं इन चिन्ताओं की कुसृष्टि उत्पन्न न होने से निवृत्त हो जाती है ।

किन्तु प्रभौ निवेदितार्थस्य विनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो, नवेति भवति चिन्ता । \*तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भवः सेवाप्रतिबन्धश्च । 'त्रैवर्गिकायासे'तिवाक्यात् भगवत्कृतप्रतिबन्धश्च तत्र स्यात् । अकरणे निवेद्याभावेन भवति च दुःखम् । एवंभूतान् स्वानुपदिशन्ति चिन्ता कापि न कार्येति ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापि ।  
भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

अतोत्र समाधेयामन्यां चिन्तामाहुः किन्चित्कारण्य भवेति च दुःखमित्यन्तेन । एवंभूतानिति । यत्नकरणाकरणचिन्तायुक्तान् उभयपक्षसमाधायकवाक्येनोपदिशन्तीत्यर्थः । तत्र सामाधानं चिन्ता न कार्येति । पूर्वसिद्धानिषिद्धवृत्तौ सहजसिद्धयत्नकरणेपि तस्य यत्नस्य चिन्ता अनुचिन्तनं कथं इदं कार्यमिति मनसा सर्वथा तद्भावनं न कार्यमित्यर्थः । अग्रेपि बह्यन्ति वाणिज्यादावास्थितौ तत्र विघ्न एव भवतीति । आस्थितिः कायवाङ्मनसां तदीयत्वम् । तथा चानास्थया यत्नकरणे पक्षद्वयोक्तोपि दोषो न भविष्यतीति भावः ।

अतः समाधान करने योग्य अन्य दूसरी चिन्ता किन्तु शब्द से आरंभ करके भवति च दुःखम् यहाँ तक के शब्दों द्वारा कही हैं । अब एवं भूतान् शब्द शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । 'एवं भूतान्' शब्द से तात्पर्य यह है कि यत्नपूर्वक की जाने वाली चिन्ता एवं यत्न के बिना स्वाभाविक रूप से होनेवाली चिन्ता; ऐसे दोनों प्रकार की चिन्ता करने वालों को समाधान करने वाले वाक्यों द्वारा प्रभुचरण उपदेश कर रहे हैं । ऐसे जीवों की चिन्ता का समाधान वे चिन्ता न कार्या इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं । यहाँ यह समझना चाहिए कि शास्त्रों द्वारा किसी अनिषिद्धवृत्ति द्वारा जीवनयापन करने में भले ही सहजरूप से किसी वस्तु को प्राप्त करने के लिए यत्न किया जा रहा हो तथापि उस यत्न की चिन्ता अर्थात् अनुचितन (वारंवार चिंतन करना) नहीं करना चाहिए । तात्पर्य यह कि "अब यह कैसे किया जाय ?" इस प्रकार से मन में विचार नहीं करना चाहिए । आगे भी प्रभुचरण यही कहेंगे कि यदि भगवान का आश्रय न करके जीव व्यापार आदि में आश्रित रहेगा तो वहाँ विघ्न ही होंगे । आश्रित हो जाने (आस्थितिः) का अर्थ यह है कि मन-वचन-कर्म से ऐसी वस्तु पर आधारित हो जाना । अतः यदि जीव इन सभी में आस्था न रखते हुए (और केवल भगवान पर आस्था रखते हुए) व्यापार-आदि में यत्न करे तो उपर्युक्त दोनों पक्षों (अर्थात् यत्नपूर्वक चिन्ता करनी एवं यत्न बिना स्वाविक रूप से होनेवाली चिन्ता) में दोष नहीं है, यह भाव है ।

लौकिकैतदभावेपि भगवदर्यापि सा न कार्या । एतदाहुः कापीतिशब्देन । अङ्गीकारेणैव सर्वं स्वत एव करिष्यतीति विश्वासो यतस्तस्यावश्यकः । भगवतोपि तथानियमः । कदाचित् परीक्षार्थं प्रारब्धभोगार्थं वा प्रभुश्चेद्विलम्बते, तदापि न कार्येत्याहुः कदापीति पदेन ।

लौकिकेति । स्त्रीपुत्रादिनिर्वाहकयत्नानास्यायामपि भगवन्नैवेद्यार्थकयत्ने आस्था सम्भवति, सापि न कार्येत्यर्थः । तत्राप्यास्यायां तत्सम्पादकेषु आस्थितिसिद्ध्या बाहिर्मुख्यं स्यादेवेति भावः । नन्वनास्थया कृतो यत्नो न सिध्येदित्याशङ्क्योत्तरार्थार्थं सामान्यत आहुः अङ्गीकारेणैवेति । स्वस्यौदासीन्येपि भगवान् स्वाङ्गीकारेणैव हेतुना सर्वं यत्नं सिद्धं करिष्यतीत्यर्थः । विलम्बते इति । औदासीन्ये तत्कृतो यत्नः कदाचित् सिध्यति चेत्तथाप्यग्रिमयत्ने आस्था न कार्येत्यर्थः ।

\* (किंच । तत्करणे बाहिर्मुख्यसम्भव इत्यारभ्योक्तचिन्ताभावापेदमत्र विचार्यते । सेवार्थं यत्नकरणे बाहिर्मुख्यं सेवाप्रतिबन्धश्च न सम्भवति । तस्य सेवाङ्गत्वेन तत्पूरकत्वात् तदकरणे तदसम्भवाच्च । नच 'त्रैवर्गिकायासे'ति वाक्यात्तत्र भगवत्कृतः प्रतिबन्ध इति वाच्यम् । त्रैवर्गिकपदवैयर्थ्यापत्तेः । अन्यथा आयासविघातमित्येतावतैव चारितार्थं स्यात् । अतः स्वकीयानां त्रैवर्गिकायासविघातमेव भगवान् करोति, न स्वसेवार्थकायासविघातमिति निश्चीयते । अन्यथा यत्नमात्रस्य निषेधे मजनमार्गं एवोच्छिद्येत । नन्वात्मनिवेदिनामितरयत्नासम्भवेन तज्जनितचिन्ताऽभावात् कथं चिन्ता न कार्येत्युपदेश इति चेत् । अत्रेदं प्रतिभाति । मजनमार्गं हि भगवदङ्गीकारस्त्रिविधः । पुष्टिमर्यादाप्रवाहभेदेन । तत्रापि वै त्रैविध्यम् । तत्र पुष्टिपुष्टावङ्गीकृतस्य नेतरयत्नसम्भवात्तपि । परं मर्यादापुष्टौ प्रवाहपुष्टौ चाङ्गीकृतस्य तत्करणं मर्यादाप्रवाहादांशः, तद्विघातः पुष्टयंशः । तथा चात्मनिवेदिनां मर्यादाप्रवाहसंबलितानां पथेतरयत्ने कृते बाहिर्मुख्यसेवाप्रतिबन्धतद्विघातादिकं भवति, तथा सेवार्थकपि यत्ने भविष्यतीति भवति चिन्ता, अतस्तदभावात् तान् प्रति चिन्ता कापि न कार्येत्युक्तम् । अतः सेवार्थं यत्नः कर्तव्य एवेति नानुपपत्तिः काचित् ।) १. उपदिशन्तीत्यन्तेनेति पाठः । २. लौकिकीति पाठः । ३. भोजनार्थमिति पाठः ।

अब लौकिक इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । यहाँ 'लौकिक.....कार्य' पंक्ति से प्रभुचरणों का तात्पर्य यह है कि स्त्रीपुत्रादि का निर्वाह करने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसमें कदाचित् भगवदाश्रय करने के कारण जीव को आस्था न भी हो परंतु स्वयं भगवान को निवेदन करने के लिए आवश्यक सामग्रियाँ जुटाने का यत्न करने में तो आस्था हो ही सकती है, परंतु यह भी नहीं करनी चाहिए, यह अर्थ है । वह इस कारण क्योंकि इसमें भी आस्था रखने से उन सामग्रियों का जुगाड़ करने में आपकी आस्था हो जायेगी और चित्त भगवान से हट जायेगा । अतः भगवान से हटकर इन सामग्रियों में आस्थिति हो जाने के कारण बहिर्मुखता तो आएगी ही, यह भाव है । किंतु यहाँ यदि कोई पूर्वपक्षी यह शंका करे कि, यदि किसी कार्य को पूर्ण करने में आस्था ही न हो, तो वह कार्य सिद्ध होगा ही कैसे ? तो इस आशंका का समाधान श्रीमहाप्रभु ने प्रथम श्लोक की दूसरी पंक्ति में दिया है, उसका अर्थ (उत्तरार्धार्थ) श्रीमत्प्रभुचरण सामान्यरूप से अंगीकारेणैव इत्यादि वाक्यों से कह रहे हैं । वे कहते हैं कि, जीव स्वयं इन यत्नों को करने में उदासीन भले ही हो, तथापि भगवान ने उसे अंगीकार किया होने के कारण वे उसके समस्त यत्नों को सिद्ध करेंगे, यह अर्थ है । अब विलम्बते इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । (इस पंक्ति के लिए प्रभुचरणों की टीका देखेंगे तो और स्पष्टता होगी) इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, यदि जीव के उदासीन रहने पर भी उसके द्वारा किए गये प्रयत्नों से कार्य सिद्ध नहीं हो रहा है तो अब आगे प्रयत्न करने में भी उसे अन्य साधनों में आस्था नहीं रखनी चाहिए, यह अर्थ है ।

ननु लोकवत् कुटुम्बाद्यासत्तया स्वस्यापि लौकिकीं गतिं कदाचित् प्रभुः कुर्यात्, तत्राहुः भगवानपीति । यतः पुष्टिः मर्यादा मर्यादामार्गीयवैराग्याद्यभावेपि 'महापुरुषेण निवेदिता' इति स्वकीयत्वेनाङ्गीकारात् तथा न करिष्यतीत्यर्थः ॥ १ ॥

ननु लोकवदिति । लोकस्येव कुटुम्बासत्तया भगवदङ्गीकारस्यासिद्धत्वेन लोकस्येव स्वस्यापि लौकिकीं लोकसदृशीं गतिमास्थापूर्वकं विचार्य यत्नकरणे एव तत्फलसिद्धिरन्यथा नेतिरूपां नीतिशास्त्रानुरोधेन कुर्यादित्यर्थः । यत इति । पुष्टिः प्रवाहो मर्यादा चेति मार्गत्रयम्, तन्मध्येऽत्र पुष्टिस्थो भगवान्, अतः कुटुम्बासत्तया मर्यादामार्गीयवैराग्यादिसाधनाभावेपि पुष्टिमार्गीयेण महापुरुषाचार्यकृतनिवेदनेन स्वीयत्वाङ्गीकारं करिष्यति । तथा चाङ्गीकारस्य सिद्धत्वाच्च लौकिकीं गतिं करिष्यतीत्यर्थः ।

भक्तस्य पुष्टिस्थत्वायापिशब्दः ॥ १ ॥

ननु लोकवत् इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । इस पंक्ति के द्वारा प्रभुचरण यह कहना चाह रहे हैं कि, लोक में दिखाई देती जीवों की लौकिक लोगों में आसक्ति की ही तरह निवेदक की भी कुटुंब-इत्यादि में आसक्ति होने के कारण भगवद्-अंगीकार सिद्ध नहीं हो पाता और इससे निवेदक को यदि यह शंका हो कि लोक की तरह हमारी भी लौकिकी/लोकसदृशगति प्रभु कर दें, तब क्या करना ? अर्थात् "लौकिककार्यों में आस्था रखते हुए विचारपूर्वक यत्नप्रयत्न करने से ही फलसिद्धि होगी अन्यथा नहीं" इस प्रकार से नीतिशास्त्र का अवलम्बन करनेवाली हमारी बुद्धि प्रभु बना दे, तब क्या करना ? यह शंका होती है । इसी बात का स्पष्टीकरण श्रीमत्प्रभुचरण यतः इत्यादि वाक्यों से कर रहे हैं । पुष्टि-प्रवाह-मर्यादा इस प्रकार से तीन मार्ग हैं । इन तीनों मार्गों में हमारे प्रभु पुष्टिमार्ग में विराजमान हैं अतः जीव में कुटुंब-आदि की आसक्ति के कारण उसके पास मर्यादामार्गीय वैराग्य आदि अन्य दूसरे साधन न भी हों, तथापि वह पुष्टिमार्गीय है एवं महापुरुष-श्रीमहाप्रभुजी के माध्यम से निवेदित हुआ प्रभु का स्वीयजन है और इसी कारण प्रभु उसका अंगीकार अवश्य करेंगे । और, चूँकि इस प्रकार से उसका अंगीकार सिद्ध ही है, अतः उसकी लौकिकगति नहीं करेंगे, यह अर्थ है । इस प्रथम श्लोक में 'भगवान' शब्द के साथ 'अपि' शब्द जुड़ा होने का तात्पर्य यह है कि, ऐसे पुष्टिमार्ग में स्थित भगवान के शरणागत हुआ जीव भी 'पुष्टिमार्गीय' है, यह अर्थ है ॥ १ ॥

एवं चेतु, स्वाच्छन्द्यव्यवहारापत्त्या बाहिर्मुख्यं स्यादत आहुः निवेदनमिति ।

निवेदनं तु स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

सर्वदा सर्वांशे तदीयत्वानुसन्धानेन तथा न भविष्यतीति भावः । अशक्त्या सेवाद्यसम्भवेऽपीदं कार्यमेवेति ज्ञापनाय तुशब्दः ।

एवं चेदिति । अनास्थायामविचारेपि फलसिद्धौ स्वाच्छन्द्येन बाहिर्मुख्यं भगवदननुसन्धानं भवेदित्यर्थः । तथा च यत्नानास्यया

समाहितो दोषः पुनः प्राप्त इति भावः । निवेदनस्मरणस्य स्वरूपमाहुः सर्वदिति । 'त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया' इति प्रकारकस्वाच्छन्देपि बाहिर्मुख्यं भगवदननुसन्धानं न भविष्यतीत्यर्थः । निवेदनानुसन्धानाभावे तु बाहिर्मुख्यं स्यादेव, अतस्तदावश्यकमिति भावः । सेवादीति । आदिपदेन कथा, तदसम्भवेपीत्यर्थः । अनायासेन फलसिद्धौ स्वाच्छन्देन प्राप्तस्य बाहिर्मुख्यदोषस्य निवारणार्थं निवेदनानुसन्धानमुक्तम् । फलसिद्धावपि तदनुसन्धानं कार्यमेवेत्यपिशब्दः ।

अब एवं चेत् इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । इस पंक्ति से आपश्री का तात्पर्य यह है कि, जीव यदि लौकिक प्रयासों को करने आस्था न रखे और अपने कार्य को सिद्ध करने में खुद बहुत अधिक विचारविमर्श न करे और यदि तब भी फलसिद्धि हो जाय (अर्थात् काम बन जाय) तो उसमें स्वच्छंदता आ जाती है एवं भगवान का अनुसंधान छूट जाता है । ऐसी परिस्थिति में तो हुआ यह कि, लौकिक प्रयत्नों में आस्था न रखने से भी यदि कार्य सिद्ध हो गया तो जीव में स्वच्छंदता की वृत्ति पनप गई । अर्थात् जिस लौकिकगति से बचने के लिए हमने यह सब उपाय किए थे, वह दोष तो पुनः आ गिरा, यह भाव है । निवेदन का स्मरण किस प्रकार से करना चाहिए यह प्रमुचरण सर्वदा पद से कह रहे हैं । अर्थात् 'हे माधव ! आपसे हृदयबद्ध कभी भी मार्गगृह नहीं होते । आपसे रक्षित विघ्नकर्ताओं के मस्तक पर पैर रखकर निर्भय विचरण करते हैं (श्री.भा. १०/२/३३)" इस श्लोक में कहे प्रकार जैसी स्वच्छंदता होने पर भी बाहिर्मुखता एवं भगवान का अनुसंधान न करने जैसे दोष नहीं होंगे, यह अर्थ है । यदि निवेदन का अनुसंधान न हो तो बाहिर्मुखता तो होती ही है अतः निवेदन का अनुसंधान आवश्यक है, यह भाव है । अब सेवादि इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं । इस पद में कहे 'आदि' पद से प्रमुचरणों का तात्पर्य कथा में है; अर्थात् यदि कथा करनी भी असंभव हो तो भी निवेदन का स्मरण तो आवश्यक है ही, यह भाव है । जहाँ जीव किसी भी कार्य के लिए स्वयं प्रयत्नशील न रहकर सभी कुछ भगवान पर छोड़ देता है, वहाँ उसमें स्वच्छंदता आ सकती है और बाहिर्मुखता का दोष आ सकता है । अतः इसका निवारण करने के लिए निवेदन का अनुसंधान करना कहा गया है । फलसिद्धि हो जाने पर भी इसका अनुसंधान तो करना ही चाहिए, यह बताने के लिए प्रमुचरणों ने 'अपि' शब्द का प्रयोग किया है ।

चकारपक्षे समुच्चयः । सर्वथेत्यस्यावश्यकत्वज्ञापनाय । अथवा । सर्वथा ये तादृशा निवेदितात्मत्वेन तत्परास्तैः सह तथा । एतेन सङ्गदोषो निवारितः । अतादृशोच्चेतद्रोपनं सूच्यते । सर्वदितिपाठे कालापरिच्छेदस्तत्रोच्यते । अन्यथा तदैवासुरप्रवेशः स्यादिति भावः । कदाचिदलौकिकार्थस्य लौकिकस्य वा सिद्धयर्थं प्रभुः प्रार्थनीय इति प्रश्ने नेत्याहुः सर्वेश्वर इति । अत्र सर्वशब्दो निवेदितात्मसर्वपरः । यथा 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या' इत्यत्र निमन्त्रिता एव सर्वपदेनोच्यन्ते, न त्वन्येपि । सर्वात्मपदेष्वेवं ज्ञेयम् । तेन सेवकाः 'सर्वे यथा यथा प्रपन्नाः, तथा तथा प्रभुरपि तेष्वङ्गीकृतस्वामित्व आत्मीयत्वमेव तेषु मनुत इति तद्धितकृतौ न प्रार्थनामपेक्षत इति ज्ञाप्यते । अथवा । कालादिनियामकत्वेन न तत्कृतोपि प्रतिबन्धसम्भव इच्छायामिति ज्ञापनाय सर्वपदं कालादिपरम् । प्रार्थितोपि स्वविचारितमेव करिष्यतीति प्रार्थनाप्यप्रयोजिकेति ज्ञापनाय निजेच्छेत्युक्तम् । अथवा । निजाः स्वीयत्वेनाङ्गीकृताः सेवकास्तेषां प्रचुरेच्छातः स्वयमेवापेक्षितं करिष्यतीति न प्रार्थनापेक्षेत्यर्थः । परन्त्विच्छाया अविकृतत्वमेवापेक्षितमिति ज्ञापनायाव्ययप्रयोगः ॥ २ ॥

चकारपक्षे सर्वथेति पदेनावश्यकत्वं बोधितम् । तुशब्दपक्षे आवश्यकत्वं तेनैव बोधितमिति सर्वथापदस्य समासेनाग्रेऽन्वयमाहुः अथवेति । आसुरप्रवेश इति । 'द्वया ह प्राजापत्या' इत्यत्र बागादीनां स्वार्थमुद्गानात् पापवेधः, आसन्यस्य भगवदर्थमुद्गानात्तदभाव इति तृतीयाध्याये वेधाद्यर्थभेदादित्यधिकरणे भाष्ये विवृतम्, अतो यस्मिन्नेव काले भगवदीयत्वविस्मरणम्, तदैव देहादावासुरधर्मप्रवेशो भवतीत्यर्थः । तेन बाहिर्मुख्यं भवेदेवेति भावः । आत्मीयत्वमेवेति । भगवतस्तदात्मत्वकथनेन तेषामात्मीयत्वमुक्तम् । स्वामित्वं भगवन्निष्ठो धर्मः सर्वेश्वरपदस्यार्थः । आत्मीयत्वं भक्तनिष्ठो धर्मः सर्वात्मपदेनोक्तः । सर्वपदस्य कालवाचकत्वपक्षे कालनिष्ठो ज्ञेयः ।

यदि मूल कारिका में 'तु' शब्द के स्थान पर पाठभेद से 'च' शब्द मान लिया जाय तो आचार्यचरण 'सर्वथा' पद के द्वारा निवेदन की आवश्यकता बता रहे हैं, यह समझना चाहिए । यदि 'तु' शब्द मान लें, तब तो स्वयं 'तु' शब्द से ही निवेदन की आवश्यकता बोधित हो रही है । 'सर्वथा' पद का तात्पर्य श्रीप्रमुचरणों ने 'अथवा' शब्द के पश्चात् 'सर्वथा.....तथा' इस पंक्ति में स्पष्ट किया है । अब आसुरप्रवेश इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । "प्रजापति के दो पुत्र थे, देव और असुर (वृहदा. १/३/१)" इस श्रुति के विवरण में कहा गया है कि, जब देव और असुरों का युद्ध हुआ, तब असुरों को पराजित करने के लिए देवता ने वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र एवं

मन इत्यादि की उपासना की परंतु असुरों ने इन्हें पापयुक्त कर दिया । इसके पश्चात् जब देवताओं ने भगवान के लिए प्राणों से उपासना की तो उसे वे पापयुक्त न कर सके । (विशेष जानने के लिए बृहदारण्यक उपनिषद् में यह प्रसंग पढ़ें) । यह सभी कुछ ब्रह्मसूत्र के तीसरे अध्याय में 'वेधाद्यर्थमेदात्' (३/३/२५) इस सूत्र के भाष्य में विवृत किया गया है । अतः जिस काल में भगवदीयता का विस्मरण हो जाता है, तब ही देहादि में असुरधर्म का प्रवेश होता है, यह अर्थ है और इससे बहिर्मुखता होती ही है । अब आत्मीयत्वमेव शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । शरणागत जीवों को 'आत्मीय' इस कारण से कहा है क्योंकि भगवान उनकी आत्मा कहे गये हैं । और, भगवान में चूँकि स्वामित्व का धर्म विद्यमान है, अतः वे सर्वेश्वर कहे जाते हैं । और भक्त में भगवान के प्रति रहनेवाला आत्मीयता का धर्म विद्यमान है, अतः भगवान 'सर्वात्म' पद से कह गये हैं । जहाँ पर 'सर्व' शब्द का अर्थ काल किया गया है वहाँ - काल भी स्वयं भगवान में स्थित है अतः वे काल के भी स्वामी हैं - इस प्रकार से अर्थ जानना चाहिए ॥ २ ॥

ननु भगवते समर्पितदेहादेः स्त्रीपुत्रादिषु विनियोगेन स्वधर्महानिचिन्ता बाधते, तत्राहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

स्वान्यना सह, आत्मना चिन्तेति, अतः, स्वस्य स्वकीयत्वात्, तत्राहुः सर्वेषामिति, ननु, प्रभुसम्बन्धो, ननु, प्रभुसम्बन्धो, तत्रोपयोगे स्वस्य का चिन्ता, न कापीत्यर्थः ।

स्वधर्मोति । स्वधर्मो निवेदनम्, तस्य हानिरित्यर्थः । स्वात्मना सहेति । प्रत्येकं प्रभुसम्बन्धे यावत्तत्सम्बन्धानामनङ्गीकारस्तत्तत्सम्बन्धयुक्ते स्त्रीपुत्रादौ स्वस्य विनियोगे दोषः स्यात्, अत्र तु सहैवाङ्गीकारात् सेवानवसरे अनिषिद्धप्रकारेण भार्याद्युपयोगे स्वधर्महानिरित्यर्थः । प्राधान्यादिति । प्राधान्याद्धेतोः स्वस्यैव नेत्यर्थः । का चिन्तेति । अभगवदीयसंसर्गे हि स्वधर्महानि चिन्तादिबद्धार्यादीनामपि समर्पणम् । परमेतावान् विशेषः । भार्यादिदेहे यथैतस्य सम्बन्धः, तथा तत्तज्जीवानामपि सम्बन्धोऽस्ति, अतः तत्तन्निष्ठस्वसम्बन्धसमर्पणे कृतेऽपि तत्तज्जीवसत्तासमर्पणार्थं भिन्नभिन्नतया तत्तत्कृतसमर्पणमपेक्षितम् एतत्कृतसमर्पणेनैतन्निरूपिततत्सम्बन्धः समर्पितो भवति, स्वस्वसहजादिदोषपञ्चकनिवृत्तिस्तु स्वस्वकृतसमर्पणेन भवति । चिन्तित्वन्यसत्ताभावादेतत्कृतसमर्पणेनैव निर्दुष्टत्वसिद्धिरिति ।

अब स्वधर्म इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । भगवान को सर्वस्व निवेदन कर देना ही स्वधर्म है और यदि निवेदन क के पश्चात् जीव के देह-अदि का विनियोग प्रभु में न होकर स्त्री-पुत्रादि में होता है तो उस निवेदन की हानि होती है, यह अर्थ है । अब स्वात्मना सह इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । प्रत्येक जीव का प्रभुसंबंध होने पर जब तक उससे संबंधित लोगों के ने अंगीकार नहीं किया है तब तक उन-उन संबंधों से युक्त स्त्रीपुरुष-आदि में स्वयं का विनियोग होने पर दोष है, परंतु यहाँ तो उन के संग प्रभु ने हमारा अंगीकार किया है अतः सेवा के अनवसर काल में शास्त्रोक्त (मनुस्मृति जैसे शास्त्रों में गृहस्थजीवन के विषय निषिद्ध एवं अनिषिद्ध प्रकारों का वर्णन आता है । उदाहरण के रूप में देखें मनुस्मृति की तीसरा अध्याय) अनिषिद्ध प्रकार से पत्नी-का उपयोग करने पर भी स्वधर्म की हानि नहीं होती है, यह अर्थ है । अब प्राधान्यात् शब्द की व्याख्या करते हैं । अर्थात् प्रधा से केवल स्वयं का ही निवेदन हुआ है, ऐसा नहीं है, यह अर्थ है । का चिन्ता इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । अभगवदीय संसर्ग होने पर ही स्वधर्म की हानि होती है परंतु परिवारजनों का भी अंगीकार तो हुआ ही है, सो वे अभगवदीय नहीं हैं अतः उनका होने पर स्वधर्म का हानि नहीं होती है, यह अर्थ है । उनमें भगवदीयता का अनुसंधान रखते हुए ही उनसे व्यवहार करना चाहिए; वे परिवारजन हैं इस प्रकार से अभिमानपूर्वक नहीं । धन की ही भाँति पत्नी-आदि का भी भगवान में समर्पण हुआ ही है परंतु यहाँ विशेष अवश्य है कि जिस प्रकार से जीव का पत्नी-आदि की देह से संबंध है, उसी प्रकार उन-उन जीवों का भी अन्यत्र कहीं तो है ही । अतः उन-उन जीवों में रहे हुए अपने संबंध का प्रभु में समर्पण कर भी दिया जाय तथापि उन-उन जीवों की अपनी की सत्ता का समर्पण करने के लिए उनके अपने द्वारा पृथकरूप से किया गया समर्पण तो आवश्यक ही है । इस जीव के द्वारा किया समर्पण से तो उससे संबंधितों का समर्पण हुआ, परंतु अपने-अपने सहज-आदि पाँच प्रकार के दोषों की निवृत्ति तो अपने-अपने

किए गये समर्पण से ही होगी । अपने धन-आदि में तो अन्य किसी दूसरे की सत्ता न होकर खुद अपनी ही सत्ता है अतः जीव के समर्पण के द्वारा ही वह धन निर्दुष्ट हो जाता है ।

इयं निवेदनेऽङ्गीकारमयदित्याहुः स्थितिरिति । कस्यचिद्विशेषतोऽङ्गीकारश्चेत्, सा पुष्टिरिति भावः ।

इयमिति । सर्वनिष्ठसम्बन्धैः सह स्वस्याङ्गीकार इत्यर्थः । विशेषत इति । निवेदकस्यैवाङ्गीकारस्तन्निष्ठकिञ्चिन्निरूपितसम्बन्धस्य नेति चेत्, सा पुष्टिः मर्यादातिक्रमो भगवतो नियन्तुमशक्यत्वादित्यर्थः । तदा तादृशो स्वदेहविनियोगो न कार्यः । अत एव 'प्रतिकूले गृहं त्यजे'दिति वाक्यम् । अस्मिन् पक्षे अन्यत्र स्त्रीपुत्रादौ विनियोगे स्वस्य देहस्येत्यर्थः ।

इयम् इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । 'इयम्' से लेकर 'स्थितिरिति' तक की पंक्ति का भावार्थ यह है कि - अपने समस्त सगे-संबंधियों के संग अपना अंगीकार प्रभु करते हैं । अब विशेषतः इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । यहाँ यह समझना चाहिए कि यदि निवेदक का केवल स्वयं का ही अंगीकार हुआ हो उससे संबंधित और किसी का नहीं तो इसे पुष्टि समझना चाहिए अर्थात् इस परिस्थिति में भगवान ने निवेदन की मर्यादा का अतिक्रमण किया है । क्योंकि भगवान को किसी भी मर्यादा के नियम में बाँधा नहीं जा सकता । (क्योंकि निवेदन की मर्यादा तो यह है कि, भगवान निवेदक के संग उसके सगे-संबंधियों का समर्पण भी स्वीकार कर लेते हैं एवं उनको भी अंगीकार करते हैं परंतु यदि भगवान किसी विशेष परिस्थिति में केवल निवेदक को ही अंगीकार करें और उसके सगे-संबंधियों को नहीं, तो वहाँ भगवान ने निवेदन की मर्यादा का अतिक्रमण करके उस निवेदक पर ही कृपा (पुष्टि) की है, यह समझना चाहिए । अब प्रश्न यह उठता है कि इसका पता कैसे चले कि भगवान ने केवल उस निवेदक को ही अंगीकार किया है, उसके सगे-संबंधियों को नहीं ? कई बार ऐसा देखा जाता है कि पूरे परिवार में किसी एक व्यक्ति को पुष्टिप्रभु में भाव होता है । और वह भगवत्सेवा की ओर तत्पर रहता है । उसके अन्य सभी परिवारजन या तो अन्यमार्गीय होते हैं, या बहिर्मुख होते हैं । या तो फिर उसकी भगवत्सेवा में विघ्न पैदा करते हैं । इन सभी लक्षणों से जाना जा सकता है कि प्रभु ने केवल उसी व्यक्तिविशेष को अंगीकार किया है अन्य किसी को नहीं) तब ऐसे बहिर्मुख एवं प्रभु द्वारा अंगीकार न किए गये सगे-संबंधियों से अपना लौकिक व्यवहार नहीं रखना चाहिए । इसी कारण आचार्यचरणों ने 'यदि पत्नीपुत्र-आदि हमारे भगवद्-धर्म से प्रतिकूल हों, तो गृहत्याग कर देना चाहिए । जहाँ तक ऐसी परिस्थिति का प्रश्न है तो वहाँ ये समझना चाहिए कि, स्त्री-पुत्र आदि का भगवान में विनियोग न होकर अन्यत्र कहीं विनियोग होता हो तो इसमें अपने देहनाश की चिन्ता क्यों करनी चाहिए, यह अर्थ है ।

अथवा । पुत्रादीनामन्यविनियोगदर्शनेपि स्वस्य का चिन्ता, तेषामप्यङ्गीकारेणैव कृतार्थतासम्भवादित्यर्थः ।

अन्यविनियोगेति । अन्यत्र लौकिके स्वस्त्रीपुत्रादिकार्ये विनियोगदर्शनेपि तेषां निवेदनहानिजनितचिन्ता स्वस्य केत्यर्थः । तेषामपीति । स्वाङ्गीकारेणैव क्रमेण तेषामपि कृतार्थता सम्भवति । अधुना अतथाभावेप्येकाङ्केन भगवत्सम्बन्धात् तदनुभावेनैवास्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा तथा बुद्ध्या स्वस्वकृतसमर्पणेन स्वस्वसहजादिदोषनिवृत्त्या कृतार्थता सम्भवतीत्यर्थः । अङ्गीकृतस्य सर्वांशे भगवानेव चिन्तां करोतीति स्वस्येत्युक्तम् । स्वस्य त्वधुनैव सहजादिदोषनिवृत्त्या कृतार्थता सिद्धा, क्रमेण तेषामपि सम्भवतीत्यपिशब्दः

॥ ३ ॥

अब अन्यविनियोग इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं । यहाँ पुत्रादीनां से लेकर इत्यर्थः तक की पंक्तियों का अर्थ यह है कि, यदि स्वयं स्त्री-पुत्र आदि का भगवान में विनियोग न होकर अन्यत्र किसी लौकिक कार्य में विनियोग होता दिखाई पड़े, तब भी 'उनका निवेदन व्यर्थ हो गया' इस प्रकार की चिन्ता हमें क्यों करनी चाहिए ? यह अर्थ है । क्योंकि अंगीकार हो जाने के द्वारा ही क्रम से उनकी भी कृतार्थता हो जायेगी, यह अर्थ है । वर्तमान में भले ही उनमें भगवान के प्रति ऐसा भाव न हो तथापि हमारे द्वारा उनका भी भगवत्संबंध तो हुआ ही है अतः इस बात से निरंतर भगवद्-अनुसंधान रखते हुए यह विचार करना चाहिए कि इस जन्म में या अगले जन्म में भी जब वे अपना-अपना पृथक् समर्पण करेंगे, तब उनके भी अपने-अपने सहज आदि दोषों की निवृत्ति के द्वारा उनकी भी कृतार्थता हो जायेगी,

यह अर्थ है । जो भगवान द्वारा अंगीकृत हुए हैं, उनके लाभ-हानि की चिन्ता सर्वाश में भगवान ही करते हैं - यह बताने के लिए स्वस्य पद कहा गया है । खुद की तो वर्तमान में ही (अर्थात् स्वयं के निवेदन कर लेते ही) सहज-आदि दोषों की निवृत्ति के द्वारा कृतार्थता सिद्ध हो जाती है और हम से संबंधित स्त्री-पुत्र आदि परिवारजनों की भी कृतार्थता क्रम से सिद्ध हो जाती है, यह प्रमुचरणों ने 'अपि' शब्द द्वारा कहा है ॥ ३ ॥

किञ्च । स्वस्येतिपदमावृत्तमपिशब्देन सम्बध्यते ॥ ३ ॥

यथा पुत्रादीनाम्, तथा स्वस्यापि सः अन्यविनियोगश्चेत्, तदापि चिन्ता न कार्येत्याहुः अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

हीनमध्यमाधिकारिभिरपि निवेदितात्मभिश्चिन्ता न कार्या भवति यत्र, तत्र कृष्णसात्कृतप्राणैश्चिन्ता न कार्येति किमु वाच्यमित्यर्थः । केवलं प्रभवधीनीकृतप्राणानां चिन्ताविषयाभावादेव न सेति भावः । अत एव केतिशब्द उक्तः । पदसम्बन्धस्तु अज्ञानादथवा ज्ञानाद्यै-स्तत्कृतम्, तेषां सा नेतिशेषः । कृष्णसात्कृतप्राणैर्यैस्तत्कृतम्, तेषां सा केत्युक्तम् ॥ ४ ॥

एतमेव पक्षमाश्रित्याग्रिमश्लोकाभासमाहुः किञ्चेति । प्रथमपक्षे स्वस्य स्वकीयस्य स्त्रीपुत्रादेरपीत्यग्रिमश्लोकव्याख्याने इत्यर्थः । केबलेति । भगवदधीनजीवनानां सर्वांशे भगवदीयत्वेन विषयाः सर्वे भगवदीया एवेति भोग्यविषयेषु स्वीयत्वेनाभिमानाभावात् सा पक्षद्वयभेदेन स्वान्यविनियोगजनिता पुत्राद्यन्यविनियोगजनिता वा चिन्ता नास्त्येव, किन्तु हीनमध्याधिकारिणामपि तदभावार्थं बोध्यत इति भावः । चिन्ताभावे हेतुः पूर्वोक्त एव सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो ज्ञेयः । आद्यव्याख्याने पूर्वं स्वान्यविनियोगचिन्ता, द्वितीये पुत्राद्यन्यविनियोगचिन्तोक्ता । द्वितीयव्याख्याने इदं विपरीतमिति विभेदः । तेषां सा नेति । स्वपदस्य स्वकीयवाचकत्वपक्षे सा स्त्रीपुत्रादिविषयिणी चिन्ता नेत्यर्थः । निवेदनपदार्थो न नश्यति, विलम्बस्तु भवत्येवेति ज्ञेयम् ॥ ४ ॥

इस पक्ष के संग (अर्थात् 'कालांतर में अन्य परिवारजनों' की कृतार्थता भी हो जायेगी इस पक्ष को लेकर) श्रीमत्प्रमुचरण अग्रिम श्लोक का विवरण किञ्च इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । श्रीमत्प्रमुचरणों द्वारा किए गये 'स्वस्य' पद के दो अर्थों में से पहले पक्ष का अर्थ - अपने स्वकीयजनों अर्थात् स्त्रीपुत्र-आदि का भी अन्यविनियोग होने पर चिन्ता नहीं करनी - इस प्रकार से है ।

अब केवल इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । इस पंक्ति का अर्थ यह है कि, स्वयं का जीवन भगवान के अधीन कर चुके ऐसे जीव चूँकि सर्वाश में भगवदीय होते हैं अतः उनके सभी लौकिक-अलौकिक विषय भी भगवदीय ही होते हैं और इसी कारण भोग्य विषयों में उन्हें स्वीयत्व का अभिमान नहीं होता । इसी कारण अपना अन्य विनियोग होने से उत्पन्न होने वाली चिन्ता; या फिर पुत्र आदि परिवारजनों का अन्य विनियोग होने से उत्पन्न होनेवाली चिन्ता; ऐसे दोनों पक्षों से होने वाली चिन्ता उनको तो नहीं ही होती है परंतु ऐसी दोनों प्रकार की चिन्ता हीन-मध्यम अधिकारियों को भी नहीं होती है, यह बोध करा रहे हैं, यह भाव है । चिन्ता न होने हेतु तो पूर्व में ही "स्वयं के सहित अन्य सभी का भी प्रभुसंबंध हो जाता है (सर्वेषां प्रभुसंबंधः)" इस वाक्य के द्वारा समझ लेना चाहिए । यहाँ श्रीप्रमुचरणों ने "अथवा" से पहले के व्याख्यान में निवेदक का लौकिक स्त्री-पुत्र-आदि में विनियोग होने से उत्पन्न हुई चिन्ता के विषय में विचार किया है । और 'अथवा' शब्द के पश्चात् द्वितीय व्याख्यान में आपश्री ने अपने स्त्रीपुत्रादि का भगवान में विनियोग न होकर अन्यत्र लौकिक में होता देखकर निवेदन को होने वाली चिन्ता का विचार किया है । दोनों प्रकार के व्याख्यानों में यही भेद है । अतः ज्ञान अथवा अज्ञान से जैसे भी आत्मनिवेदन किया हो, उनको ऐसे किसी भी प्रकार चिन्ता नहीं होनी चाहिए, यह तेषां सा न इत्यादि शब्दों से प्रमुचरण कह रहे हैं । यहाँ यह समझना चाहिए कि 'स्वस्य' पद का जहाँ अर्थ - 'स्वयं से संबंधित स्त्रीपुत्र आदि के विषय की चिन्ता नहीं करनी चाहिए' - इस प्रकार से किया गया है, वहाँ उस पक्ष में - "अपने स्त्रीपुत्र आदि के विषय की चिन्ता नहीं करनी चाहिए" - इस प्रकार से अर्थ लेना चाहिए । फलप्राप्ति में विलंब तो होता ही है परंतु निवेदन करना व्यर्थ ही जाए, यह संभव नहीं है ॥ ४ ॥ (इस वाक्य से टीकाकार कह कहना चाह रहे हैं कि चूँकि जीव के निवेदन के संग-संग उसके अंगभूत स्त्रीपुत्र आदि का भी परोक्षतया समर्पण तो हो ही चुका है अतः वह तो व्यर्थ नहीं जायेगा परंतु उन सभी का उस निवेदनकर्ता के अंगत्वेन एवं परोक्षरूप से समर्पण हुआ है अतः उनके कृतार्थ होने में विलंब तो होगा ही । भाव यह कि, जब वे स्वयं पृथक-पृथक रूप से समर्पण करेंगे, तब वे भी कृतार्थ हो जायेंगे । परोक्षतया किया गया निवेदन भी व्यर्थ नहीं जायेगा, यह अर्थ है।)



ननु सख्यात्मनिवेदने हि भगवदङ्गीकारेणैव सम्पद्येते, तथा च स्वयमात्मनिवेदने कृतेपि प्रभुरङ्गीकृतवान्नेवेति चिन्ता भवत्येव, इत्यत आहुः तथेति ।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।  
विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥

पुरुषोत्तमोङ्गीकृतवान्नेवेति निवेदनविषयिणी या सा त्याज्या उक्तनिवेदनवदित्यर्थः ।

इति निवेदनविषयिणीति । इति असम्पत्तिप्रकारेण निवेदनविषयिणीत्यर्थः । पूर्वोक्तापि निवेदनविषयिण्येव, परं हानिप्रकारेणोक्तेति भावः । पूर्वोक्तमेव समाधानमत्रापि ज्ञेयमित्याहुः उक्तनिवेदकवदिति । मूलस्थतथेतिपदस्यार्थोयम् । सप्तम्यर्थे वतिः । यथा निवेदके, तथा पुरुषोत्तमे इति मूलानुसन्धानेनार्थः । तथा च यथा पूर्वश्लोकोक्तरीत्या निवेदककृतान्यविनियोग-हेतुकनिवेदनहानिचिन्ता त्याज्या, तथा भगवत्कृताङ्गीकाराभावहेतुकनिवेदनासम्पत्तिचिन्तापि त्याज्येत्यर्थः ।

अब निवेदनविषयिणी इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं । इसका भाव यह है कि, 'निवेदन करने के पश्चात् पुरुषोत्तम ने स्वीकार किया या नहीं ?' इस प्रकार की चिन्ता निवेदनविषयिणी चिन्ता है । पूर्व में कही गई चिन्ता भी निवेदनविषयिणी ही है, परंतु उस चिन्ता में स्वयं का या परिवारजनों का अन्य विनियोग होने से निवेदन की हानि हो जाने की चिन्ता का प्रकार बताया था किंतु यहाँ तो 'निवेदन के पश्चात् प्रभु ने स्वीकार किया या नहीं ?' इस प्रकार की निवेदन-विषयक चिन्ता है । वहाँ इस चिन्ता का जो समाधान दिया था, वही समाधान यहाँ भी जानना चाहिए, इस कारण से प्रभुचरणों ने यहाँ उक्तनिवेदकवत् कहा है । यह मूलग्रंथ के पाँचवें श्लोक में प्रयुक्त हुए 'तथा' पद का अर्थ है । अर्थात् मूल श्लोक में आए 'तथा' पद से भी आचार्यचरणों का तात्पर्य उन तीन प्रकार के निवेदकों द्वारा निवेदन करने से ही है । अतः अब अर्थ यह बनेगा कि - अज्ञान से निवेदन किया गया हो या ज्ञान से अथवा तो कृष्ण के साथ अपने प्राण आत्मसात करने के पश्चात् किया गया हो, चिन्ता तो किसी भी परिस्थिति में नहीं करनी चाहिए यह अर्थ है । 'निवेदकवत्' शब्द में सप्तमीविभक्ति के अर्थ में 'वत्' प्रत्यय हुआ है । जिस प्रकार निवेदक को होनेवाली चिन्ता का समाधान कहा था, वैसे ही पुरुषोत्तम के विषय में होने वाली अर्थात् 'पुरुषोत्तम-श्रीकृष्ण ने मेरा अंगीकार किया या नहीं' इस प्रकार से होने वाली चिन्ता का समाधान कहा है, यह अर्थ है । और, इस प्रकार जैसे पूर्वश्लोक में कही गई रीति के अनुसार निवेदक द्वारा की गई अन्यविनियोग से होने वाली निवेदन-व्यर्थता की चिन्ता त्याग देनी चाहिए, उसी प्रकार "भगवान के अंगीकार न करने से मेरा निवेदन व्यर्थ हो जायेगा" ऐसी चिन्ता भी त्याग देनी चाहिए, यह अर्थ है ।

पुरुषोत्तमेन निरोधलीलायां स्वतोन्यभजनं क्रियमाणा भक्तास्तन्निवार्य स्वयमात्मसात्कृता इति तादृशो स्वयं सर्वात्मना निवेदने कृते सा शङ्का नोचितेति ज्ञापनाय पुरुषोत्तमपदम् । तत्रापि स्वरूपानन्ददानेनानिशां पोष्यमाणानां भक्तानां तदितरत्रोपयोगासम्भवेनैव न शङ्कोदय इति ज्ञापनाय श्रीपदम् ।

पुरुषोत्तमेनेति । एतेन हीनमध्याधिकारिणां निवेदनविषयकचिन्ताभाव उक्तः । उक्तमाधिकारिणामाहुः तत्रापि । निवेदितात्मस्वपि मध्ये कृष्णसात्कृतप्राणानामुत्तमाधिकारिणां तु परमसौन्दर्यस्य स्वगतत्वाय तादृशाकारेण प्रादुर्भूते भक्तसहिते भगवति समर्पणस्य सिद्धत्वात् तदानन्देन पोष्यमाणानां शङ्काया उदयो यस्मात् स शङ्काहेतुर्नास्तीत्यर्थः । तदितरत्रेति । अम्बिकावनगमनेपि तं दोषं निवार्य स्वस्मिन्पुयुक्ताः सर्वे कृताः, रासस्थानां तु गमनमेव नास्ति । इदमङ्गीकारस्वरूपं ज्ञेयम् । तथाप्युत्तमाधिकारिणां तु भगवदीयेभ्य इतरत्रोपयोग एव न सम्भवति । तस्मिन् सति हि तादृशशङ्का भवतीति भावः ।

प्रभुचरणों ने 'पुरुषोत्तमेन' से लेकर 'पुरुषोत्तमपदम्' तक की पंक्ति में हीन-मध्यम अधिकारियों को होने वाली निवेदनविषयिणी चिन्ता का समाधान कहा है । एवं उक्तमाधिकारियों की चिन्ता का समाधान वे 'तत्रापि' शब्द से आरंभ कर रहे हैं । यहाँ भाव यह है कि समस्त निवेदित-आत्माओं के अंतर्गत भी जो कृष्ण से अपने प्राणों को आत्मसात करने वाले उत्तमाधिकारी हैं, उनका तो अंतःकरणों में अपने परमसौंदर्य को स्थापित करने के लिए अपने भक्तों के सहित प्रादुर्भूत हुए ऐसे भगवान को समर्पण हुआ है अतः भगवान के ऐसे आनंद

से निरंतर पोषित हुए उत्तमाधिकारियों को जिस कारण से शंका उत्पन्न होती है, उस शंका का कारण ही नहीं है, यह अर्थ है ।

अब तदितरत्र इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । (यहाँ 'तदितरत्र' पद से लेकर 'श्रीपदम्' तक के शब्दों का श्रीमत्प्रभुचरण की व्याख्यानुसार अर्थ यह है कि जिन भक्तों को भगवान ने अपने स्वरूपानंदसे पोषित किया है, ऐसे भक्तों का भगवान से इतर कोई दूसरे स्थान पर उपयोग हो जाना संभव ही नहीं है। यहाँ टीकाकार इसी बात को श्रीमद्-भागवत में आए 'अंबिकावन के प्रसंग से और स्पष्ट कर रहे हैं । यहाँ उल्लेख है कि एक बार नंदबाबा एवं अन्य दूसरे गोपों ने शिवरात्रि के अवसर पर अंबिकावन की यात्रा की एवं भगवान शंकर एवं देवी अंबिका का बड़े ही धूमधाम से पूजन किया । रात्रि के समय वहाँ एक सुदर्शन नाम के अजगर ने नंदबाबा का पैर पकड़ लिया और जलती हुई लकड़ी से मारे जाने पर भी उन्हें नहीं छोड़ा । वहाँ भगवान ने उसे अपने चरणारविंदों से छूकर उन्हें मुक्त किया । इस प्रसंग पर श्रीमहाप्रभु सुबोधिनी में लिखते हैं कि इस समय तक भगवान पूतना-वध, कालियानाग-वध, दावानल एवं गोवर्धन-उद्धरण' इत्यादि लीलाओं से स्वयं का स्वरूप प्रकट कर चुके थे एवं गोपबालकों का चित्त अपने स्वरूप में स्थापित कर चुके थे । इतना होने पर भी नंदबाबा एवं गोपबालकों ने अन्याश्रय किया। अतः श्रीमहाप्रभु कहते हैं कि अन्याश्रय करने वाले को तो कालरूप सर्प पकड़ेगा ही अतः उन्हें ऐसा दंड मिला । देखें (श्री.मा. १०/३४/१....१९) । टीकाकार इसी प्रसंग का उदाहरण देकर यह कहना चाह रहे हैं कि जैसे भगवान ने इन अन्याश्रय करने वालों को भी अन्यत्र चित्त की वृत्ति को हटाकर स्वयं में स्थापित की, वैसे वे हम पर भी अवश्य कृपा करेंगे, यह अर्थ है ।) जिस प्रकार ब्रजभक्तों के अंबिकावन जाकर अन्याश्रय करने पर भी प्रभु ने उनके दोष दूर करके उन सभी की चित्तवृत्ति स्वयं में स्थापित की, उसी प्रकार यहाँ भी अवश्य करेंगे । ब्रजभक्त तो अंबिकावन गये भी और अन्याश्रय किया भी परंतु गोपीजन तो अंबिकावन गयी ही नहीं एवं अन्याश्रय किया ही नहीं । यही भगवान के अंगीकार करने का स्वरूप है, यह जान लेना चाहिए । फिर भी इतना तो समझना ही चाहिए कि उत्तमाधिकारियों का तो भगवदीयों से अतिरिक्त और कहीं उपयोग होना संभव ही नहीं होता; अन्यत्र कहीं उपयोग होने से ही इस प्रकार की शंकाएँ होती है, यह भाव है ।

तथा च तद्युक्ते तत्र निवेदने सा त्याज्येति भावः । कदाचिद्धोकभयाद्युपस्थितौ तन्निवारणाय जीवस्वभाववशादन्यविनियोगेपि तथेत्याहुः विनियोगेपीति । प्रमादात्तथासम्भवेपि प्रभुर्न त्यास्यति । यतस्तत्स्वभाववशात्तथाभूतमप्युद्धतुं तत्साधनानपेक्षः ॥ ५ ॥

तद्युक्ते इति । ताभिः श्रीपदसूचितलीलाभिश्च युक्ते निवेदने सति भ्रमात् प्राप्ता शङ्का त्याज्येत्यर्थः । तथा च पुरुषोत्तमे यन्निवेदनं तद्विषयिणी पुरुषोत्तमकृताङ्गीकाराभावहेतुकनिवेदनासम्पत्तिचिन्ता; तथा निवेदककृतान्यविनियोगहेतुकनिवेदनहानिचिन्तावत् त्याज्येति मूलार्थः । निवेदनविषयिणी चिन्ता निवेदके इव पुरुषोत्तमेपि त्याज्येत्यन्वयः । अन्यविनियोगेपीति । राज्याद्याश्रयणेपीत्यर्थः । ज्ञात्वा त्वास्थया तदपि न कर्तव्यमित्याशयेनापिशब्दार्थमाहुः प्रमादादिति ॥ ५ ॥

अब तद्युक्ते शब्द की व्याख्या कर रहे हैं । 'तद्युक्ते' (तद्+युक्ते) शब्द का अर्थ यह है कि 'श्री' पद से उपर सूचित की गई लीलाओं से युक्त जो पुरुषोत्तम हैं, उनमें निवेदन कर लेने के पश्चात् ऐसे भ्रमों से उत्पन्न होने वाली चिन्ताएँ त्याग देनी चाहिए । अतः इस प्रकार, पुरुषोत्तम में निवेदन कर लेने के पश्चात् 'उन्होंने मेरा अंगीकार किया या नहीं ?' ऐसी निवेदनविषयिणी चिन्ता उसी प्रकार त्याग देनी चाहिए, जिस प्रकार निवेदक द्वारा अन्य विनियोग से उत्पन्न होने वाली निवेदन-व्यर्थता की चिन्ता त्याग देनी चाहिए, यह मूल का अर्थ है । जिस प्रकार निवेदक को निवेदनविषयिणी चिन्ता त्याग देनी चाहिए, उसी प्रकार 'पुरुषोत्तम ने मेरा अंगीकार किया नहीं ?' यह चिन्ता भी त्याग देनी चाहिए, यह अन्यय हुआ । अब अन्यविनियोगेपि इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं । इसका अर्थ यह हुआ कि भगवान का आश्रय न करके जीवननिर्वाह करने के लिए किसी राजा-आदि प्रशासक का भी आश्रय कर लेने पर निवेदन-व्यर्थता की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, यह अर्थ है । यहाँ ये समझना आवश्यक है कि जान-बूझ कर आस्थापूर्वक तो ऐसे किसी राजा का भी आश्रय नहीं करना चाहिए, इस आशय से श्रीमहाप्रभुजी ने 'अपि' शब्द का प्रयोग किया है और इसी के गूढार्थ को श्रीमत्प्रभुचरणों ने प्रमादात् शब्द से कहा है । टीकाकार यहाँ मूल श्लोक में आए 'अपि' शब्द पर ध्यान दिला रहे हैं। 'अपि' शब्द का अर्थ होता है भी । इसका आशय यह है कि, किसी आपातकालीन स्थिति में या जीव निर्वाह के लिए ऐसे किसी अन्य का आश्रय करना पड़ जाय तब तो क्षम्य है परंतु जान-बूझ कर या ज्ञानपूर्वक तो ऐसे किसी अन्य का भी आश्रय नहीं करना चाहिए । इसी बात को प्रभुचरणों ने 'प्रमाद' शब्द से कहा है । वे कहते हैं कि प्रमाद से ऐसा हो जाय अर्थात् मूल से ऐसा हो जाय, तब तो ठीक है परंतु

जानबूझकर तो अन्य किसी का भी आश्रय नहीं करना चाहिए, यह अर्थ है ॥ ५ ॥

अङ्गीकारे लक्षणान्तरमप्याहुः लोक इति ।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

कदाचित् प्रवाहवशात्लौकिके वाणिज्यादौ, वैदिके आश्रमधर्मादौ वा स्थितौ तत्र विघ्न एव भवति, न तु तत्फलमित्यर्थः । तत्र हेतुः पुष्टीति ।

लक्षणान्तरमपीति । पूर्वलोके भगवतः पुरुषोत्तमत्वमेतद्विषयकाङ्गीकारे लक्षणं सन्देहाभावसाधकमुक्तम् । तत्र पुरुषोत्तमोपि नहि सर्वानङ्गीकृतवान्, किन्तु कांश्चन तादृक्प्रसादविषयान्, तत्राहं कीदृश इति स्फुटं ज्ञानुं न शक्यत इत्यधुना लोकवेदस्वास्थ्यदूरीकर्तृत्वरूपं लक्षणान्तरमप्युच्यते इत्यर्थः । स्वास्थ्यपदस्यार्थमाहुः आस्थिताविति । आस्थितिः कायवाङ्मनसां तदीयत्वमिति लक्षणमेकादशस्कन्धसुबोधिन्यामुक्तम् । तथा च मूले स्वास्थ्यमित्यत्र स्वपदेन लोकवेदौ तन्निष्ठतां न करिष्यति, सिद्धां च दूरीकरिष्यति, विघ्नसम्पादनेनेति शेषः । तथा चैवं विघ्नेनाङ्गीकारो निश्चेय इति भावः । आस्थितौ विघ्नकथनेन इदं मम कार्यसाधकमिति ज्ञात्वा तद्विश्वासेन वाणिज्यादिकमाश्रमधर्मादिकं च न कर्तव्यम्, किन्तु एतद् द्वारा भगवान् करिष्यतीति ज्ञात्वा तदुभयं कर्तव्यमिति भावः ।

अब लक्षणान्तरमपि इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । इस वाक्य के द्वारा प्रमुचरण, पूर्वलोक में भगवान् पुरुषोत्तम के अंगीकार करने के लक्षण में जो संदेह रह गया हो तो, उसका निवारण कह रहे हैं । और वह लक्षण यह है कि, पुरुषोत्तम भी सभी का अंगीकार नहीं करते अपितु जो कोई ऐसे तादृशी हों एवं जो उनके कृपापात्र हों उन्हीं का अंगीकार करते हैं । ऐसी परिस्थिति में जीव को 'परंतु इनमें मैं कैसा हूँ ?' यह जानना शक्य नहीं होता अतः अब वे उनके अंगीकार का दूसरा लक्षण भी 'भगवान् अंगीकृत जीव को लोक एवं वेद में सफलता (स्वस्थता) नहीं देते " इस प्रकार से कह रहे हैं, यह अर्थ है । 'स्वास्थ्य' पद का अर्थ प्रमुचरण 'आस्थितौ' शब्द से कर रहे हैं । 'आस्थितिः' शब्द का अर्थ होता है, काया-वाणी-मन से उसका हो जाना-यह लक्षण एकादशस्कंध की सुबोधिनी में कहा गया है । और इस ग्रंथ में 'स्वास्थ्य' पद में प्रयुक्त 'स्व' पद से यह अर्थ समझना चाहिए कि, भगवान् जिसका अंगीकार करेंगे उस जीव की लोकवेद में निष्ठा नहीं करेंगे और यदि उसकी निष्ठा हो तो भी विघ्न पैदा करके दूर कर देंगे, यह अर्थ है । और इस प्रकार भगवान् विघ्न संपादित करके अंगीकार निश्चित् करते हैं, यह भाव है । इन लौकिक - वैदिक कार्यों में जीव की निष्ठा होने पर भगवान् उसमें विघ्न उपस्थित कर देते हैं - ऐसा कहने में आशय यह है कि जीव को 'ये लौकिक-वैदिक कर्म ही मेरे कार्यसाधक हैं' इस विश्वास से व्यापार-आदि एवं आश्रमधर्म आदि नहीं करने चाहिए परंतु इनके द्वारा भगवान् ही करेंगे, ऐसे जानकर ये समस्त लौकिक एवं वैदिक कर्म करने चाहिए, यह भाव है ।

तद्विनापि स्वबलेनैव सर्वकर्ता यत इति भावः । पुष्टिमार्गाङ्गीकारे मर्यादां न सहत इति ज्ञेयम् । एवं सति किं कार्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः, साक्षिवत् तत्कृतं पश्यत ॥ ६ ॥

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।

अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥ ७ ॥

सेवाकृतिरिति । गुर्वाज्ञाया अबाधनं यथा भवति, तथा सेवाकृतिः पूर्वमपेक्षिता । एवं वर्तमानानां कदाचिद् विशेषतो भगवदाज्ञा चेत्, गुर्वाज्ञा विरुद्धा भवेत्, तदा तथा कार्यमित्याशयेनाहुः बाधनं वा हरीच्छया ।

स्वयमेव समर्थत्वात् स्वकीयानां साधननिष्ठतां निवारयतीत्याहुः तद्विनापीति । ननु तथापि सिद्धस्य साधनस्य विघाते को हेतुरित्याशङ्क्य तृतीयचरणस्य तात्पर्यान्तरमप्याहुः पुष्टिमार्गाङ्गीकारे इति । किं कार्यमिति अनास्थया कृतो यत्नः कथं फलं जनयेदित्यर्थः । साक्षिवदिति । यथा साक्षी कर्तुर्हानिवृद्ध्योर्हर्षशोकरहितः सन् कर्तुसम्पादितं फलं पश्यति, तथा हर्षशोकरहिताः

सन्तः साधनानास्थया भगवत्सम्पादितं फलं विघ्नं वा पश्यतेत्यर्थः । तथा च भगवानेव तस्य यत्नस्य फलजनकतां सम्पादयिष्यतीति भावः ॥ ६ ॥

चूँकि प्रभु स्वयं ही सभी कुछ करने में समर्थ हैं अतः जीवों की भगवान में न होकर साधनों में रही हुई निष्ठा का प्रभुचरणों ने तद्विनापि इत्यादि शब्दों से निराकरण किया है । किंतु यहाँ एक शंका यह होती है कि, यह बात तो ठीक है कि भगवान साधनों में रही हुई निष्ठा का विघात कर देते हैं परंतु जो साधन स्वतः ही सिद्ध हो चुका हो, तो ऐसे बने-बनाए साधन का विघात करने में क्या हेतु है ? तो इस शंका का समाधान मूल श्लोक के तीसरे चरण (पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् ) के दूसरे तात्पर्य से प्रभुचरण पुष्टिमार्गाङ्गीकारे शब्दों से कर रहे हैं । इसका अर्थ यह हुआ कि यदि जीव पुष्टिमार्ग में अंगीकृत हुआ है तो उसके समस्त लौकिकवैदिक कार्य भी पुष्टिमार्गीय पद्धति से ही सिद्ध होंगे, लोक एवं वेद में कहे साधनों द्वारा नहीं । और पुष्टिमार्गीय पद्धति यह है कि जीव के समस्त कार्य प्रभु ही सिद्ध करते हैं, यह अर्थ है । किं कार्यम् इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि, यदि इन लौकिक-वैदिक कार्यों में आस्था न रखने का उपदेश दिया गया है तो आस्था रखे बिना किया गया कोई भी कार्य कैसे फल उत्पन्न करेगा ? इस शंका का समाधान प्रभुचरण साक्षिवत् इत्यादि शब्दों से कर रहे हैं । वे कहते हैं कि, जिस प्रकार एक साक्षी कर्ता की हानि एवं वृद्धि में हर्ष-शोक रहित होकर केवल उसके द्वारा संपादित फल को मात्र देखता है, उसी प्रकार जीव को भी हर्ष-शोक से रहित होकर साधनों में निष्ठा न रखते हुए भगवान द्वारा संपादित फल को अथवा विघ्न को मात्र देखते रहना चाहिए, यह अर्थ है । और, इस प्रकार, उस जीव के प्रयत्नों का फल भगवान ही संपादित करेंगे, यह भाव है ॥ ६ ॥

विकल्पेर्नाबाधनमित्यर्थः । एवं सति गुर्वाज्ञाया अबाधने बाधने वा सेवैव मुख्या यतोऽतस्तथैव स्थेयमित्याहुः अत इति । एवं सति पर्यवसितं सुखमेवेत्याशयेन सुखमित्युक्तम् ॥ ७ ॥

विकल्पेनेति । साक्षात्सेवायां सिद्धायां साधनरूपसेवायामबाधनमिति व्यवस्थितविकल्पेनेत्यर्थः । तथैव स्थेयमिति । आवश्यककार्यार्थं कदाचित् कार्यस्य तत्परत्वेपि चित्तं सेवापरमेव विधातव्यम्, नतु तत्कार्यपरमिति यत्नानुचिन्तनं न कर्तव्यमिति ग्रन्थारम्भे उक्तोर्थ उपसंहृतः ॥ ७ ॥

अब विकल्पेन इत्यादि वाक्यों की व्याख्या कर रहे हैं । यहाँ विकल्प का अर्थ यह है कि, साक्षात् सेवा सिद्ध होने पर (अर्थात् जब प्रभु सानुभाव जताने लगे एवं स्वयं माँग कर सेवा का सुख देने लगे, और कोई विशेष आज्ञा हमें करें तब) उतने अंश में भगवद्-आज्ञा के अनुसार करना चाहिए और साधनरूप सेवा करते समय (अर्थात् गुरु-आज्ञा के अनुसार करते समय) गुरु-आज्ञा का बाधन न होता हो, वैसे करना चाहिए । अब तथैव स्थेयम् इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । इन शब्दों का अर्थ यह है कि किसी आवश्यक कार्य के लिए कदाचित् उस कार्य में तत्पर हों भी जाएँ तथापि चित्त तो सेवा में ही लगा कर रखना चाहिए, उस कार्य में नहीं । और, उस कार्य को करने के यत्न का वारंवार चिन्तन भी नहीं करना चाहिए । इस प्रकार ग्रंथ के आरंभ में कहे हुए अर्थ का ही यहाँ प्रभुचरण उपसंहार कर रहे हैं ॥ ७ ॥

कदाचित् पुत्रादिवियोगशङ्काजनितदुःखेन चिन्तासम्भवे गतिमाहुः चित्तोद्वेगमिति ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

नन्विदमखिलमशक्यमिव भाति । तथाहि । श्रवणमारभ्य सख्यपर्यन्तागतौ हि पश्चात्निवेदनवार्ता । तत्र प्रत्येकं तदेव दुरापमिति दूरतरा निवेदनदिगपि ।

कदाचिदिति । कदाचित् पुत्रादिवियुक्तो भवेदिति सम्भावनया जनितं यदुःखं चित्तस्य पुत्रादिपरता इति यावत्, तेन हेतुना निवेदनविषयिणी चिन्ता सम्भवति । तथा च लोकबन्धमापि चित्तं पुत्रादिपरं जायत एवातो निवेदनं सम्भवं नवेति चिन्तासम्भवे गतिं तद्बाधप्रकारमाहुरित्यर्थः । चित्तस्योद्वेगं भगवदीयत्नाननुसन्धानेन पुत्रादिपरतां विधायापि यद्यत् करिष्यति सा सा तथा तत्तत्प्रकारिकैव तस्य लीला निवेदिनां सर्वं कार्यं स्वयमेव करोतीति भावः इति मत्वा निवेदनविषयिणी चिन्तां त्यजेदिति मूलार्थः । एतच्चिन्तास्थापने

‘संशयात्मा चिन्श्यती’तिवाक्यात् सर्वमेव नश्यतीति द्रुतमित्युक्तम् । निवेदनं सम्पन्नमेव, परं विलम्बेन भगवतः स्वप्रापणं चिकीर्षितमिति ज्ञेयमित्यर्थः

कदाचित् इत्यादि शब्दों की व्याख्या करते हैं । इनका अर्थ यह है कि, कदाचित् ‘पुत्रादि से वियोग हो जाय’ ऐसी संभावना से जनित जो दुःख होता है अर्थात् चित्त का निरंतर पुत्र-आदि में रहना जैसी चिंताओं से निवेदनविषयिणी चिन्ता संभव होती है और, “लोक में अन्य लोगों की तरह मेरा भी चित्त मेरे पुत्र-आदि परिवारजनों में जाता ही है अतः मेरा निवेदन पूर्णरूपेण संपन्न हुआ या नहीं” ऐसी चिन्ता होने पर किस प्रकार का भाव रखना चाहिए, यह कह रहे हैं, यह अर्थ है । इस प्रकार से चित्त में उद्वेग होने पर मन में भगवदीयता का अनुसंधान रखते हुए मन में यह भाव रखें कि, भले ही प्रभु मेरा ध्यान मेरे पुत्र-परिवार में लगा रहे हैं तथापि वे जो-जो करेंगे वह-वह उनकी वैसे-वैसे प्रकार की लीला ही है एवं वे निवेदितों के समस्त कार्य स्वयं ही संपन्न करते हैं, यह मानकर निवेदनविषयिणी चिन्ता त्याग देनी चाहिए, यह मूलार्थ है । ऐसी चिन्ता करने से ‘संशयात्मा नष्ट हो जाता है (म.गी. ४/४०)” इस वाक्यानुसार सभी कुछ नष्ट हो जाता है अतः ‘सभी चिंताएँ शीघ्र त्याग देनी चाहिए (द्रुतम्)’ यह कहा गया है । साथ ही साथ यह भी समझना चाहिए कि, निवेदन तो भलीभाँति संपन्न हुआ ही है परंतु भगवान ने हमें उनकी प्राप्ति विलंब से कराने की इच्छा रखी है, यह अर्थ है ।

अतस्तत्कृतचिन्तान्यवियोगचिन्तादिसमाहितिर्निरर्थेति विचार्य साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।

वदद्भिरैवं सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

यस्मादुक्तरीत्या स्वतः सर्वमशक्यमतः सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदयम् । भक्तिमार्गीयान् सर्वानंशान् विचार्य तत्र प्रतिबन्धं स्वाशक्तिं च स चेत् पश्यति, तदा सर्वात्मना तथा भवति । नित्यमिति नैरन्तर्यमुच्यते । अन्यथा कालेनासुरधर्मप्रवेशः स्यात् ।

अन्तःकरणे तथाभावेऽतथाभावे वा तथा वदनमावश्यकमिति ज्ञापयितुं सततमेवं वदद्भिरित्युक्तम् । एवं सति लोकशिष्याप्यानुषङ्गिकी सिध्यति । एवमुक्तप्रकारेण सेवापरतया स्थेयमित्यर्थो वा ।

तत्कृतेति । निवेदनकृता यत्नकरणाकरणविषयिणी चिन्तेत्यर्थः । साधनफले इति । साधनं श्रवणाद्यष्टकम्, फलमात्मनिवेदनम्, शरणागतावेकदैवैते सम्पद्येते इत्यर्थः ॥ ८ ॥ सर्वमशक्यमिति । श्रवणादिनवकमप्यशक्यमित्यर्थः । प्रभुरेवेति, समर्थत्वाच्छरणं गतानामेकदैव सर्वं सम्पादयिष्यतीत्यर्थः । प्रतिबन्धमिति । साधारणप्रतिबन्धोद्वेगं लौकिकभोगकृतं प्रतिबन्धमित्यर्थः । ‘भगवत्कृतप्रतिबन्धे त्वासुरोयं जीव इति निर्धार’ इत्युक्तम् । अन्तःकरणे इति । एतेनैकांशेनापि भगवत्सम्बन्धे आसुरप्रवेशो न भवतीति सूचितम् ।

अब तत्कृत इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । (‘तत्कृत’ इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि, जैसे प्रभुचरणों ने किसी पूर्वपक्षी की शंका उठाते हुए आज्ञा की थी कि, उपर्युक्त निवेदन करने के पश्चात् चिंता दूर हो जाने का उपदेश अशक्य लगता है, क्योंकि नवधाभक्ति में श्रवणभक्ति से गिनकर अंतिम भक्ति निवेदन है और जहाँ श्रवण ही अशक्य लग रहा हो, वहाँ निवेदन की तो दिशा भी दूरतर है अतः उस निवेदन को उत्पन्न हुई चिंताओं (तत्कृत) का समाधान करना व्यर्थ ही है। इसी शंका को प्रभुचरणों ने “तत्कृत” इत्यादि शब्दों से कहा है। इसका समाधान आपश्री ने “साधनफले एकीकृत्य” इत्यादि शब्दों से आगे दिया है) तत्कृत इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि निवेदनकर्ता को इन चिंताओं का समाधान करने का यत्न करना व्यर्थ ही है। साधनफले इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । श्रवण से लेकर सख्य भक्ति तक की आठ प्रकार की भक्ति ‘साधन हैं ।’ नौवीं भक्ति आत्मनिवेदन फल है । शरणागति होने पर ये दोनों एक बार में ही संपादित हो जाते हैं, यह अर्थ है ॥ ८ ॥

नन्विदमपि न स्वशक्यमित्याशङ्क्य ‘यमेवैष वृणुत’ इति श्रुतेर्मे मतिरित्येव, एवंप्रकारिकैवेत्यर्थः ।

प्रथमपक्षे एवमित्यनेन पूर्वार्थानुवादः । द्वितीयपक्षे पूर्वोक्तस्य सेवापरं चित्तं विधाय स्वीयतामित्यस्यानुवादः । नन्विति ।

अर्धाङ्गीकारेण समाधानमाहुः यमेवेति । भगवतो वरणलभ्यत्वात् मम मत्सम्बन्धेन मदीयानां च वृत्त्वान्मन्मत्तिसिद्धप्रकारं मदीयानां भगवानेव शक्यं करिष्यति, अन्येषां वरणरहितानां त्वशक्यमेवेति भावः ॥ ९ ॥

अब सर्वमशक्यम् इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । 'सर्वमशक्यम्' शब्द का अर्थ है - श्रवण आदि नौ प्रकार की भक्ति भी अशक्य है । प्रभुरेव इत्यादि शब्दों का अर्थ यह है कि चूँकि प्रभु समर्थ हैं अतः उनकी शरण में जाने वाले भक्तों के लिए एक बार में ही वे सभी कुछ संपादित करेंगे । अब प्रतिबंध शब्द की व्याख्या करते हैं । प्रतिबंध का अर्थ है - साधारण प्रतिबंध । जैसे 'उद्वेग एवं लौकिक भोगों से होने वाला प्रतिबंध । जहाँ भगवान द्वारा प्रतिबंध होता है, वहाँ आचार्यचरणों ने सेवाफल-विवरण में "भगवत्कृत प्रतिबंध होने पर तो, जीव का आसुरी होना निश्चित होता है" यह निर्धारित किया है । अब अन्तःकरणे इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । इस पंक्ति से यह सिद्ध होता है कि सर्वथा शरणागति हो या न हो परंतु एकांश में भी यदि भगवत्संबंध स्थापित हो जाय तो आसुरावेश नहीं होता है, यह सूचित किया है ।

यहाँ प्रभुचरणों ने प्रथमपक्ष में अपने "यस्मादुक्तरीत्या स्वतः" से लेकर "लोकशिक्षाप्यानुषङ्गिकी सिध्यति" तक की पंक्तियों में इस श्लोक के प्रथमचरण अर्थात् "तस्मात्.....मम" इस पंक्ति का अर्थ किया है । इसके पश्चात् आपश्री पिछले श्लोकों में आए "सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम्" इस पंक्ति का अर्थ कर रहे हैं । अब हम ननु इत्यादि पंक्तियों पर विचार कर रहे हैं । प्रभुचरण आज्ञा कर रहे हैं कि जीव को यदि मात्र अष्टाक्षर लेकर सेवापर रहना भी संभव न हो पा रहा हो, तो प्रभुचरण यम् इत्यादि शब्दों से यह समझा रहे हैं कि आचार्यचरणों के द्वारा प्रभु को निवेदन किया गया होने के कारण जीव का आधा अंगीकार तो हो चुका है । तात्पर्य यह है कि भगवान जिसका वरण करते हैं, उसी को प्राप्त होते हैं और आचार्यचरणों द्वारा संबंधित होने के कारण प्रभु ने उन निजजनों का वरण किया है अतः आपश्री मे मतिः इत्यादि शब्दों से यह आज्ञा कर रहे हैं कि मेरे मतानुसार, मेरी कही शरणागति समस्त वस्तुएँ, मेरे निजजनों के लिए भगवान ही शक्य बनाएंगे । अन्यथा जिनका आचार्यचरणों ने ही वरण नहीं किया है, उनके लिए तो यह सभी कुछ अशक्य ही है, यह भाव है ॥ ९ ॥

भक्तिमार्गे प्रवृत्तस्य दाढर्यार्थमिदमुच्यते ।

अन्धस्य सूर्य इव तद्विमुखस्यात्र नार्थिता ॥ १ ॥

भक्तिमार्गसुधासिन्धोर्विचारमयनैः स्वयम् ।

स्फुटीकृतानि रत्नानि श्रीमदाचार्यपण्डितैः ॥ २ ॥

मयोज्ज्वलीकृतानीत्यं हृदि धृत्वा ब्रजाधिपम् ।

भजन्तु भक्ता येनासौ न विमुञ्चति कर्हिचित् ॥ ३ ॥

इति श्रीश्रीविद्वलदीक्षितविरचितो नवरत्नप्रकाशः समाप्तः ।

तर्हि बोधनं किमर्थमित्याशङ्क्य स्वयमाहुः भक्तिमार्गे इति । एतेन वृत्तस्य दाढर्यं भवतीत्यर्थः । अवृत्तस्य तु न भविष्यतीत्याहुः अन्धस्येति ॥ १ ॥

भक्तिमार्गसुधासिन्धोरिति । भक्तिमार्गप्रवर्तकः सुधासिन्धुर्भागवतशास्त्रं तस्मादपादानात् विचाररूपैर्मन्यनदण्डैः करणैः । श्रीमदाचार्यपण्डितैः कर्तृभिः । स्वयं समुद्धृतानि, न तु गुर्वादिशिक्षया तादृशानि ॥ २ ॥

मया चेत्युज्ज्वलीकृतानि रत्नानि स्वहृदि धृत्वा धृत्वा ब्रजाधिपं भक्ता भजन्तु, येनाचार्योद्धृतरत्नप्रकारकभजनेनासौ न विमुञ्चतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

इति श्रीविद्वलरायात्मजश्रीबल्लभविरचिता नवरत्नटिप्पणी समाप्ता ।

यदि भगवद्-वरण के द्वारा ही भगवान प्राप्त होते हों तो आचार्यचरणों को इस ग्रंथ में किए गये उपदेशों का बोध कराने की क्या आवश्यकता है ? यदि कोई ऐसी शंका करे तो उसे प्रभुचरण भक्तिमार्गे इत्यादि शब्दों से कह रहे हैं । इन उपदेशों से भगवान के द्वारा वरण किए जा चुके भक्त की शरणागति दृढ़ सिद्ध होती है, इस कारण से आचार्यचरण इतना उपदेश कर रहे हैं, यह अर्थ है । जिनका वरण ही नहीं हुआ है, उनके लिए तो ये उपदेश वैसे ही निरर्थक हैं, जैसे किसी अंधे के लिए सूर्य - यह बात प्रभुचरणों ने अन्धस्य इत्यादि शब्दों से कही है । ॥ १ ॥

### श्रीविद्वलेशात्मजश्रीवल्लभकृतप्रकाशटिप्पणम्

अब भक्तिमार्गसुधासिन्धोः इत्यादि शब्दों की व्याख्या कर रहे हैं । अर्थात् भक्तिमार्ग के प्रवर्तक पंडित श्रीमदाचार्यचरणों ने सुधासागर-श्रीमद्भागवत से विचाररूप मंथन के द्वारा स्वयं इन रत्नों को भलीभाँति उद्धृत किया है, किसी गुरु-आदि की शिक्षा द्वारा नहीं । ॥ २ ॥

प्रभुचरण कह रहे हैं कि, मैंने ब्रजाधिप-श्रीकृष्ण को हृदय में धारण करके ही इन रत्नों को उज्ज्वल किया है; आचार्यचरणों द्वारा उद्धृत किए गये इन रत्नों में कहे प्रकार से भजन करने लाले भक्त को प्रभु कभी भी त्यागते नहीं हैं, यह अर्थ है । ॥ ३ ॥

यह श्रीविद्वलशायात्मज 'श्रीवल्लभ' विरचित नवरत्नटिप्पणी समाप्त हुई ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

# नवरत्नम् ।

श्रीमुरलीधरकृतविवृतिप्रकाशसमेतम् ।



नवरत्नसुवर्णनिर्मिता परमानन्दरसस्य बोधिका ।  
हृदये बसतात् सदोर्वशी परमोच्चग्रहरश्मिस्वपिणी ॥ १ ॥  
रसमयसुवर्णधारावर्षणशीला दशविधप्रगुणाः ।  
श्रीमुरलीधरलीला मुरलीधरमानसे सन्तु ॥ २ ॥  
वसु सुवर्णमयं परितः परं रसमयं च विधाय सुमण्डलम् ।  
विविधनर्तनदर्शनतत्परा रसनिधिर्मयि सैव विराजताम् ॥ ३ ॥  
ललिते वृन्दाविपिने वैकुण्ठादप्यतीव रमणीये ।  
क्रीडसि नवरसरुचिरे श्रीस्वामिन् मम हृदम्बुजे क्रीड ॥ ४ ॥  
श्रीशुकदेवरहस्यं प्रकाशितं यैरतीव रमणीयम् ।  
श्रीबल्लभाभिधानैर्नवधा तेभ्यो नमोस्तु मे सततम् ॥ ५ ॥  
श्रीमद्विद्वलप्रभुषु श्रीनवरत्नप्रकाशानिपुणेषु ।  
सप्तविभक्तिरहस्यप्रकाशकेष्वस्तु मे प्रणतिः ॥ ६ ॥

अन्तःसलधर्मप्रधानकलिदूषितसमयतीर्थकर्तृमन्त्रद्रव्यश्रद्धादीनामसाधकत्वाद्द्विष्णुदुरवगाहपाषण्डादिनिपुणजनतासङ्गसञ्जाताज्ञानान्ध-  
कारसंभृतहृदयदरीनिविष्टविषयविषरससंभृतानन्तसंसारसागरे निमग्रतया चेतसः स्थिरत्वाभावाद्बिभ्रुक्तीत्या श्रवणादिसाधनाभावान्नवभी-  
रत्नैश्चिन्ताभावपूर्वकं तदीयत्वानुसन्धानपूर्वकं च निरन्तरमष्टाक्षरवदनकृतिसाधनरूपसाध्यफलामतिसुगमां च श्रीकृष्णस्य श्रीमद्वदनरूपाः  
श्रीबल्लभाचार्या दैविजीवानुदिधीर्नन्तः प्रथमं मध्यनायकत्वेनालौकिकश्रेष्ठभानोर्विशेषरूपया निगूढद्विमात्रया आर्ययोपदिशन्ति चिन्ता  
कापि न कार्येत्यादिना ।

चिन्ता कापि न कार्या निवेदितात्मभिः कदापि ।

भगवानपि पुष्टिस्थो न करिष्यति लौकिकीं च गतिम् ॥ १ ॥

वसन्तादिपूर्णरसमयषडैश्वर्यादिमूर्तिमद्भिः सेवितस्य गोरसदानादानप्रवीणस्य द्वादशसुवर्णरत्नराशिकल्पतरुस्कन्धारूढस्य श्रुतिगीतद्वा-  
दशमाससंबत्सरादिरसमयसमयप्रादुर्भावकस्य गायकपरित्राणनिपुणैकव्यक्तिपदमात्राविद्योतितसकलसुषमास्पदकीर्तिप्राकट्यकारकस्य सप्ता-  
क्षरव्यञ्जितोत्तमवासरस्य त्रिभुवनललितमाधुर्यादिसुगन्धलतामधुपानप्रवीणषट्पदस्य स्वीयजनानामाधिदैविकसकलज्योतिषामानुकूल्येन  
चिन्तानिर्वर्तकस्य द्वितीयचरणमात्राविद्योतितत्रयोदशमाससंबत्सरस्य लौकिकसकलशुभकर्मानर्हस्याप्यस्य भगवद्भक्तावाधिव्यद्योतकस्य  
तथाधिकमात्रायास्त्रयोदशीत्वेनानङ्गस्यापि साङ्गतासिबोधकस्य उत्तरदलाद्वैलक्षण्यद्योतनायाधिकेकमात्रस्य वा । सा मात्रा तु गायकपरित्रा-  
णसमर्थायाः, प्रथमचरणे गूढा न्यासे द्वितीयचरणे च प्रकटीकृता । अत्र च याकारे आकृतिरूपं निगूढवासुदेवपदमुत्तरान्वयि गूढमासमन्तात्  
सर्वप्रकारेण निवेदित आत्मा यैरित्यर्थात् । अत एव षट्पदत्वमुक्तम् । तस्य चरणान्तत्वेन गुप्तवामनत्वे सत्येकादशेति प्रथमचरणेन साम्यम् ।  
अनेन मलिम्लुचातिरिक्तैकादशमासानां सङ्ग्रहेऽपि द्योतितः । द्वितीयचरणं तु त्रयोदशमात्रं सममेव, त्रिपदायास्तृतीयान्त्यस्य व्यञ्जनस्य  
न्यासेऽगणनाद्याकारस्य वैकल्पिकवामनत्वे द्वादशमात्राः । अकारोप्यत्राकारात्पूर्वं प्रसिद्धो वेद्यः सकलवाग्रूपः । अस्या गायत्र्याश्च तुरीयस्य  
तुरीयनिगमवैदिकत्वाभावात् त्रिचरणैः साम्यम् । अस्यास्त्रिचरणायाश्चालौकिकश्रेष्ठभानुप्रकाशत्वम् । एकस्मिन्नक्षरे मध्यस्था  
दिव्यव्यक्तिरव्यक्ता पूर्वोत्तरान्वयिनी । पूर्वान्वयित्वे यशोदोत्सङ्गलालिता व्यक्तिरुत्तरान्वयित्वे कीर्त्यङ्गलालिता व्यक्तिर्व्यञ्जिता वेद्या ।  
अङ्गो ह्यानन्दात्मा विद्यारूपो भगवत्प्राकट्यस्थानम् । व्यक्तिद्वयेऽप्यङ्गस्य समत्वात् । सकलवाग्रूपाक्षर एकस्मिन्नेकाङ्कः । द्वितीयायां व्यक्तौ



द्वितीयत्वेऽपि तज्जातित्वेनाद्वयत्वादेकाङ्कः । एवं चैकाङ्कस्य द्वित्वे होकादशी कृष्णबल्लभा प्रकटा भवति । तथा च दलद्वयस्याद्यन्तरहितत्वेन वर्तमानता उत्तरोत्तरं वर्तमानस्यैव रसावहत्वात् । योगबलेन भूतभविष्यत्पदार्थयोर्वर्तमानत्वेऽपि सर्वेषां तथात्वाभावात् । अत एव यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यमिवैचोत्तरोत्तरभूयस्त्वमिवान्तिमवर्णोऽर्थपर्यवसानमनुभवसिद्धं रसावहम् । अतो वाक्यपदीये 'पदेन वर्णा विद्यन्त' इत्यादि । किञ्च, दीर्घे मात्राद्वयम्, षुवने त्रयमिति हरिः पञ्चधा इह द्वितीयचरणे मात्रात्रयं गुप्तम्, तद् द्वितीयव्यक्त्या व्यक्तीकृतं कदापीतिपदेनेति । न हि कदापीतिपदमेकम्, किन्तु पदत्रयम् । एवञ्च कदाप्येतस्मात् पदद्वयात् यदितिपदमाचार्यैः शेषत्वेन पूर्वोक्तसकलप्रकारबोधकं हृद्येव स्थापितम् । गायत्रीमात्रार्थसाम्याय तत्स्वात्मद्वितीयव्यक्त्या व्यक्तीकृतं वेद्यमिति भावः । द्वितीयचरणान्त इति पदे सति पञ्चदशमात्राभिस्तिथय इति कृष्णजन्मपक्षः । पदैर्भूतभविष्यद्भर्तमानाः एतत्सकलरहस्यार्थबोधकस्य 'क्षयः कार्तिकादित्रये नान्यतः स्यात् तदा वर्षमध्येऽधिमासद्वयं चे'ति संबत्सरस्यास्य मासास्त्रयोदशेति सोऽपि संगृहीतः । इति पदप्राकट्ये गूढाः षोडशकला द्वादशकले प्रविशन्ति । तृतीये मात्राभिः सूर्यस्य कलानामक्षरैर्मासानां पदैः प्रातरादीनां त्रयाणां द्योतकस्य तुर्ये मात्राभिः शुक्लपक्षद्योतकस्य रुद्रसङ्ख्याक्षरैर्मलिम्लुचातिरिक्तमासानां च पदैर्हरिः पञ्चात्मकत्वं स्पष्टयतः, प्रातःसङ्गममध्याह्नापराह्णसायाह्णानां च द्योतकस्य, दिनमणेरुत्तरपदमात्रस्य भावत्रययोगात् (?) स्वार्थिके कनि सत्याद्युदात्तस्य माणिक्यस्य रसेन परिपूर्णस्य सम्बन्धानन्दात्मकरत्नस्य प्रतिपादकतया आर्याविशेषरूपाया मध्यनायकरत्नबोधिकाया अपि तद्रूपता वेद्या । वेद्यवेदकयोः संपृक्तकत्वात् । एवमग्निमेष्वपि वेद्यम् । श्रीकृष्णस्य हरेः पञ्चविधत्वं श्रीप्रभुचरणैर्निबन्धे उक्तम् 'अग्निहोत्रं तथा दर्शः पूर्णमासः पशुस्तया । चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात् पञ्चविधो हरिः । तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादि सुगादि यत् । प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यं तु वैकृतमिति' वेदार्थस्य पञ्चात्मकतां सूचयितुं हरिनामाक्षराणि चत्वारि भक्तजनदुःसहरणदक्षाणि समूहरूपेण पृथग्बर्णाभावरूपं च पञ्चममिति पञ्चधा हरिः । तथा कृष्णनाम्नि वर्णाः पञ्च । पञ्चवर्णोऽगिति । स चर्वेदादिरिति पञ्च, अस्यासनत्वं पशूनामगम्यत्वाय सूचितम् । भगवतः भक्तानां तु विद्यात्मकमुखारविन्दपङ्क्तिं प्राप्य कृतार्थता भवति । रमन्ते भक्तानां मनांसि यत्र तद्रत्नम् । प्रत्येकं रत्नेषु नवत्वेऽपि क्रमो विवक्षितः । श्रेष्ठभानोः समयपरिच्छेदकज्योतिषां प्राधान्यात् तद्रत्नस्य मध्यनायकत्वम् । आर्याविशेषरूपछन्दसा द्योत्यद्योतकयोः श्रेष्ठत्वसूचनात् ।

अर्थस्येयमतिश्रेष्ठा श्रेष्ठभानो रसात्मिका ।

विशेषरत्नतापन्ना वसुरत्नप्रकाशिका ॥ १ ॥

मध्यस्था प्रथमं प्रोक्ता श्रीमद्बल्लभदीक्षितैः ।

सोर्वशी राज्ञां नित्या मुरलीधरमानसे ॥ २ ॥

अष्टरत्नप्रधाननवमस्योर्वशीत्वं प्रधानतयोक्तं माणिक्यस्य ।

रसमध्यसुवर्णनायिका वरमाणिक्यतया निरूपिता ।

हृदये मुरलीधरस्य सा लसताभित्यमनन्तवैभवा ॥ ३ ॥

त्रिचरणसमगायत्री तुरीयचरणेन संयुता तत्त्वम् ।

वेदानां प्रसवित्री मुरलीधरमानसे प्रकाशयताम् ॥ ४ ॥ १ ॥

दिनमणोर्दिनप्रधानस्य रत्नमभिधाय क्षणदाप्रधानस्य कृष्णसाराङ्कस्य स्वात्ममृतबिन्दूद्भवं मुक्ताफलाभिधं द्वितीयं रत्नमाहुः निवेदनं च स्मर्तव्यमित्यादिना ।

निवेदनं च स्मर्तव्यं सर्वथा तादृशैर्जनैः ।

सर्वेश्वरश्च सर्वात्मा निजेच्छातः करिष्यति ॥ २ ॥

स्मरणं चन्द्रेच्छे च मानसे । एवं च 'अहं तवास्मि' इति निरन्तरं स्मर्तव्यम् । तच्च भगवत्प्राप्तौ मुख्यं निमित्तम् । तेनाविकृतषोडशदल आधिदैविको भगवन्मनश्चन्द्र आधिभौतिकेऽविकृते सत् विद्यात्मतां याते अक्षरात्मनि व्यापके पञ्चदशकलत्वं प्राप्ते सेवकमनश्चन्द्रे निर्विशते, तदा षोडशकलो भवति । अत एव षोडशसङ्ख्याकाश्रणाङ्काः । अत एव रसिकशिरोमणिभिः श्रीहरिरायैः 'यद्भवानाचेतोपि च षोडशकलमञ्जसा भवति' इत्युक्तम् । इहापिशब्दाच्चित्तबुद्ध्यहङ्काराणां तत्सङ्ख्याकानां चतुःषष्ट्यक्षरात्मिकाः कलाः सम्पद्यन्ते । सर्वथा तादृशैः कायवाङ्मनोभिरनन्यतया ये भवन्तं प्रपन्नाः तादृशैरिति सहार्थे तृतीया । यद्यपि स्मरणे सङ्गपेक्षा नास्ति, तथापि तादृग्भिन्नैः सह सङ्गनिवृत्त्यर्थं तयोक्तिः । सर्वसेवकानामीश्वरत्वेन निरोधकत्वात् तेष्वेव दैवेषु आत्मत्वमात्मीयत्वं च मनुते । अतो 'निजस्य नैजानां चाविकृतेच्छात' इत्युक्तं प्रकाशे । भगवदिच्छा परिष्ठाद्यर्था तात्त्विकी नेत्यविकृतोक्ता । स्वतन्त्रप्रवाहमर्यादयो रत्ने शोकोत्पादकत्वात् शोकाश्रयत्वात् वा शुक्तित्वम् । क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकनिवेशस्योक्तत्वात् शोकजनकत्वम् । करिष्यतीति

सामान्योक्त्या केषुचिदविलम्बः, केषुचिन्मध्यविलम्बः, केषुचिदतिविलम्ब इति द्योत्यते । वर्तमानसामीप्ये भविष्यत्प्रयोगात् प्रथमः पक्षः, इतरौ तु सामान्यप्रयोगाद्वेद्यौ ।

उपरितनमर्यादा शुक्तिरधस्तात् प्रवाहरूपा च ।  
 उभयोः सम्मुटगर्भे स्वातिरसालं विरत्नरत्नेव ॥ १ ॥  
 उपरि महामर्यादाधस्तनशुक्त्या तु सम्मुटं याता ।  
 पुष्टिर्मुक्ता मध्येऽसंसृष्टा निर्गता ततः शुद्धा ॥ २ ॥  
 पुनरनयोर्न प्रविशति भगवद्भूषासु संसक्ता ।  
 इत्थं मुक्तारत्नं द्वितीयमथ द्वयं वेद्यम् ॥ ३ ॥  
 प्रवाहवेदमर्यादाशुक्तिसम्मुटनिर्गताः ।  
 कलानिधे रत्नरूपा मुक्ताः स्वातिरसात्मिकाः ॥ ४ ॥  
 भवन्तु भावे सरसे तासां मम रसात्मनः ।  
 सदा येन भवेद्भावो भूषणे भूषणे विभोः ॥ ५ ॥  
 प्रशस्तपुष्पवद्रत्ने सर्वरूपरसान्विते ।  
 श्रीकृष्णहृदये भाते भासेतां हृदये मम ॥ ६ ॥ २ ॥

रसवर्षणभावद्वादशात्मककृष्णसाराङ्गाङ्गादकरसररश्म्युदयमात्रेण प्रफुल्लतां प्राप्तवतोः, अत एव प्रशस्तयोर्रेत्युत्कृष्टरमार्णवस्वरत्नरूपयोः कमलयोः पुष्पयोः सदा विद्यमानसाययोगोविप्रप्रतिपालकवंशप्रवर्तकयोरलौकिकयोः सकलभुवनाप्यायकत्वेन पुष्टिप्रदयोः सूर्याचन्द्रमसोः सदानन्दरूपे रत्ने अभिधाय तृतीयां सेवकव्यक्तिं विना सेव्यलीलानुदयात् पूर्वोत्तरान्वयिनीं सदानन्दमध्यस्थां चिदानन्दाक्षर-दैवजीवसम्बन्धिदेहरूपविद्रुमाख्यां मध्यपुरुषबोध्यामदिगन्तां रत्नव्यक्तिमाहुः सर्वेषामिति ।

सर्वेषां प्रभुसम्बन्धो न प्रत्येकमिति स्थितिः ।

अतोऽन्यविनियोगेऽपि चिन्ता का स्वस्य सोऽपि चेत् ॥ ३ ॥

वसुन्धराप्रधानानां प्राकृतानां स्वस्वीयदेहानां परब्रह्मसम्बन्धादलौकिकतां यातानामक्षरस्वरूपत्वेन चिद्रूपसात्त्विकानां विशेषेण मङ्गलद्रुमरूपता भवति । सा तु श्रीकृष्णाभरणत्वेन । किञ्च, द्रवतेर्गत्यर्थकत्वेनान्यत्र विनियोगसम्भव उक्तः । न हि स वस्तुतो भवति । यतोऽलौकिकहस्तिपकेन प्रभुचरणारविन्देन स्वसेवकमनोमत्तमातङ्गस्य स्वस्मिन्नेव स्थापनाय नित्याङ्गुशधारणं कृतम् । अत उक्तं ललिते 'एतत्पदपङ्कजमधुमत्तस्यायं निसर्ग एवाभूत् । नेतरभावं भजते यदङ्गुशो नित्यमेवास्ती'ति । प्रभोरिच्छायाः सर्वकार्यकरणसमर्याया यः सम्बन्धः स परब्रह्मणः समत्वात् सर्वत्र समः । ईदृग्देहानां मङ्गलमन्दिरवेदत्रयात्मकाक्षराधारत्वेन मङ्गलरत्नत्वम् । स्वयं विराजमानत्वात् ।

भौमानां विद्रुमत्वं भवति निजपरस्वीयदेहादिकानाम्

कृष्णेऽद्धा स्वर्पितानां रसमयपरमालौकिकानां स्वभक्तैः ।

स्वीयाचार्यस्य मार्गे परमगुणगणालङ्कृता भूषणार्हाः

सेवायुक्ता यतस्ते रसमयवपुषो जङ्गमाः कल्पवृक्षयः ॥ १ ॥

मच्चित्ते ता भवन्तु प्रणयरसभरा उर्वशी रत्नमध्यात्

बाह्यायां वीथिकायां हृदयपरिसरे रत्नरूपाः सुवर्णैः ।

इत्थं रत्नं तृतीयं नवसु निगदितं पूर्णकामायमानम्

तस्मै दिव्याय मे स्यान्नम इह परमानन्दलाभाय नित्यम् ॥ २ ॥ ३ ॥

ननु मध्यहीनाधिकारिभिः स्वयं ज्ञात्वा स्वदेहस्यार्पितत्वेपि पुत्रादीनां ज्ञानाभावात् तदेहानामज्ञानावृतचित्तत्वेन लौकिक-त्वादन्यविनियोग एव भवतीति भवतिचिन्तेति बुधस्य सेवकजनशिक्षकस्य महापुरुषस्य निवेदकस्य प्रभावादज्ञानकृतनिवेदितदेहानामपि चिन्ता न कार्येति मरकताभिधं तुरीयं रत्नमाहुः अज्ञानादिति ।

अज्ञानादथवा ज्ञानात् कृतमात्मनिवेदनम् ।

यैः कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ॥ ४ ॥

श्रीमुरलीधरजीकृत

अज्ञानस्य व्युत्तरणोत्तरक्षण एव सम्बन्धात् प्रथममुपादानम् । तच्चावरकत्वात् सङ्घर्षणनिचोलनिभम्, यतः ज्ञानात् प्रकाशकत्वेन भास्वरप्रायात् स्वच्छाद्धेतुभूतात् कृतं देहादीनां परमात्मने समर्पणम्, श्रीकृष्णाधीनकरणं प्राणानामविकृतमव्ययत्वाद्देयम् । अतस्तस्मै हितः प्रत्ययः सातिश्च वेद्यः । बुधेऽज्ञानाद् ज्ञानाद्वापितं स गृह्णाति, बुधत्वेन वैषम्याभावात् । तदीयत्वेन रत्नमपि तादृशम् । म्रियतेऽनेनेत्यहन्ताममतात्मको विविधदुःखदो मनोदेहेन्द्रियविकृतिजनकः संसारो मरः, तस्य कतो नैर्मल्यजनकः । यतः कं निरतिशयानन्दः, तं तायति तनोति वा उप्रत्ययान्तः । मनोदेहेन्द्रियादीन् स्वभावतो मलिनान्कृतकापरपर्यायनिर्मलीकृतधनरसं शोधयति, तथेदमपि । अतः प्रमाणरूपरामेण तादृग्वर्णवसनं धृतम् । अङ्गं सुङ्गं वा पण्डितत्वादानुगृह्णाति ।

सरस्वतीरूपनिचोलरामस्याङ्गे य आनन्दमये रसायाम् ।

श्रीबालकृष्णो रमते यथेच्छं तं पूर्णकामं प्रणमामि देवम् ॥ १ ॥

बुधो विद्यारूपः प्रकटपरमानन्दजनको

निचोलं यन्नीलं सकलरसशृङ्गारविभवम् ।

धृतं येन स्वच्छं मरकतमणिप्रख्यमतुलम्

स मे चित्ते भूयादखिलतिमिराज्ञानदलनः ॥ २ ॥

निकुञ्जे यल्लीनं सरसरमणीनां हृदि तटे

प्रसिद्धं वृन्दाया विपिनभुवनेत्र प्रतिदिनम् ।

प्रमेयं विख्यातं दशरसरसालङ्कृतवपुः

महातेजःपुञ्जं मनसि मम भूयाद्वसुमितम् ॥ ३ ॥

मरकतमिह रत्नं यद्बुधस्योक्तमेत-

त्प्रभवतु मम चित्ते शोधनाय प्रकामम् ।

गुरुचरणसमर्प्या स्याद्यथा पुण्यकर्त्री

सकलदुरितहर्त्री सर्वकामप्रदात्री ॥ ४ ॥

इति बुधस्य मरकताख्यं चतुर्थं रत्नम् ॥ ४ ॥

स्वतन्त्रः कर्ता सकलरसमयः श्रीनिकेतनः पूर्णपुरुषोत्तमोऽर्पितमङ्गीकृतवान्, न वेति संशयमुद्दिधीर्षवो मुकुन्दमुखारविन्दतेजोनिधिरूपाः श्रीबान्धवतय आचार्याः सर्वथा प्रपन्नान् सेवकान् वाचस्पतेः सकलगुणनिधानं पुष्परगाख्यं पञ्चमं रत्नमाहुः तथा निवेदने चिन्तेति ।

तथा निवेदने चिन्ता त्याज्या श्रीपुरुषोत्तमे ।

विनियोगेपि सा त्याज्या समर्थो हि हरिः स्वतः ॥ ५ ॥

पुष्यन्ति अनायासेन भक्तानां शुभमनोरथा येन स पुष्यः पुरुषोत्तमः, तत्र रागो येन, समर्पणमात्रादिति अङ्गीकृतिः, तस्मिन्नुरागादेव सर्वथा भवतीत्यन्वर्थं रत्नम् । अयं भावः । 'पुष्यसिद्धयौ नक्षत्र' इति व्युत्पादनात् युष्यन्ति, पुष्टानि भवन्ति भक्तमनसेप्सितानि येन स पुष्यः । स च तेजोमयनक्षत्रात्मा न क्षीयते, न क्षरति, रश्मिभिर्व्याप्रीतीत्यक्षररूपः सदानन्दः पूर्णः श्रीपुरुषोत्तमः, तस्मिन् रागो येन तादृशः । भगवदङ्गीकृतेरिदं लक्षणं यत्तत्र परा भक्तिः प्रादुर्भवति । अत एव पूर्णः सदा ब्रह्माद्याश्रयणीयतया सहितत्वात् पुरुषेषूत्तमश्चेति नोपेक्षतेऽङ्गीकृतवस्तुमात्रम्, अर्पितस्य सच्छब्दार्थरूपत्वेन तस्य श्रीसूर्यनामनामित्वेन तदीयत्वात् । एवं ब्रह्मानन्दादुद्धरणं पदार्थमात्रस्य वेद्यम् । भजनानन्दे योजनं तु पूरणात् पुरुषधर्मः ।

पूरणात् पुरुषतामनवद्यामुत्तमां समधिगम्य रमेशः ।

सोयमत्र नहि मुञ्चति भक्तान् क्रीडति प्रतिदिनं हृदयेषु ॥ १ ॥

पुष्यति प्रतिदिनं हृदये वै येन राग इह भक्तजनानाम् ।

तद्दुरो रसमयं पररत्नं पुष्परग इति मे मनसि स्यात् ॥ २ ॥

स्वस्य स्वीयजनस्य वा परवशत्वादन्ययोगो भवेत्

देवादत्र सदा तदा निजजनैश्चिन्ता न कार्या यतः ॥ ३ ॥

सामर्थ्यं पुरुषोत्तमस्य सततं श्रीभर्तुरव्याहृतम्

जानीयादिति पुष्परागरचना मे मानसे भासताम् ॥ ४ ॥

इति पुष्परागाख्यं पञ्चमं गुरुदेवस्य रत्नम् ॥ ५ ॥

अहं ममेत्यसद् आग्रहेण लोचति यस्मिन्निति लोकः, पुनः पुनरावर्तनदः प्रवाहमार्गः । अत्र लोचनं नामाहन्ताममतयोरेव विशेषज्ञानम् । तत्र व्यवहारे क्रियमाणे सेवकस्य स्मयनाशनाय फलं न भवति, किन्तु लोके व्यवहारेण फलाभावात् 'खेदे सति हरिः करिष्यति, तदेव भविष्यतीति निश्चये जाते भगवान् पुष्टिमार्गे एव तिष्ठतीत्यनायासेन सकलमनोरथाः सेत्स्यन्तीति तदस्यतया सेवकैः स्थेयमित्युपदिशन्ति, मर्यादामार्गेषु स्मयनाशनायोपदिशन्ति लोके स्वास्थ्यमित्यादिना ।

लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति ।

पुष्टिमार्गस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिलाः ॥ ६ ॥

भक्तानां स्मयनाशनेन सकलं दुःखं हरतीति हरिर्यतोऽयं तृतीयमार्गस्यः । मर्यादामार्गे देशादीनां कृष्णाश्रयोक्तरीत्या साम्प्रतमसाधकत्वात्, तत्र प्रत्युत प्रत्यूहमेव करोति परीक्षायै, स्वतन्त्रेच्छत्वाच्च, पुष्टिमार्गस्थितत्वेन सुखमेवान्ततः प्रयच्छतीति पुरुषार्थद्वयं सम्पद्यते । अन्यथा विततानेकविध्युक्तसाधने क्लेशोपि फलाभावे सुतरां क्लेशः । तस्मात् स्वयं कविनाम्ना रसाधायकरीत्या अलौकिकं न केनाप्यपनोद्यं फलं प्रयच्छतीति भावः । अत एव कवेर्वज्ररत्नेन व्रजति पर्वततुल्यं किल्बिषं गच्छत्यनेनेत्यन्वयेन सर्वं सेत्स्यतीति साक्षितया सेवकैस्तत्कृतिं पश्यद्भिरेव स्थेयम् ।

वाणिज्यादौ च वेदे विविधविधिकृतौ विघ्नमेवेति वेद्यम्

यस्मात्तस्मात् फलं वै न भवति नितरां कर्तुरस्य कृपायाः ।

अन्तःस्थभूयोभिमानो न भवति सुतरां मानसं वज्रतुल्यम्

नीरीभूतं यथा स्यात् फलमपि भवति श्रीशनिष्ठं यतस्तत् ॥ १ ॥

पर्वतसदृशं किल्बिषमिह जातं भक्तवर्गस्य ।

व्रजति त्वरितं वज्रादित्यन्वर्थं कवे रत्नम् ॥ २ ॥

साक्षीवत्कृतिमादराद्भगवतो यूयं सदा पश्यते-

त्येवं सिध्यति सर्वमीप्सिततमं कार्यं फलं कर्तुतः ।

पुष्टिं श्रीपुरुषोत्तमादुपदिशन्त्यद्धा तदास्यात्मका

आचार्या इह वैष्णवान् स्वकुलतोप्यन्यानन्याश्रितान् ॥ ३ ॥

मर्यादात्यजनं विरुद्धमिह यत्तत्त्वं परं ये विदुः

पुष्टेः किन्तु दरिभरित्वमिति तत् स्वीकृत्य पुष्टिं गताः ।

दुष्टास्ते दयया सदा विरहिता वेदाक्षरान् वाचय-

त्यद्धाज्ञान्गुरुमीश्वरं ह्युपदिशन्तीशस्य चाज्ञाद्बुहः ॥ ४ ॥

इति कवेः शुकस्य रत्नं षष्ठम् ॥ ६ ॥

कविर्ज्योतीरूपो देवः सुरासुरभावज्ञ आसुरभावं निन्दयन् दैवभावं स्तुवन् स्वरत्नेन । एवं च प्रह्लादादिष्वासुरत्वेपि तद्धर्माभावादनुग्रहः, अन्येषु निग्रहोपि सूचितोऽनेनेति । दैवैः किं कृत्वा स्थेयमित्यादिसन्देहान् सारिरत्नेन निवर्तयन्ति सेवाकृतिरित्यादिना ।

सेवाकृतिर्गुरोराज्ञा बाधनं वा हरीच्छया ।

अतः सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखम् ॥ ७ ॥

गृणाति परमात्मनस्तत्त्वमिति गुरुः, 'गुरुं न मर्त्यं मन्येते'ति वाक्यात् तदुपदिष्टमार्गेण रसमयी सेवा विधेया । ततः कदाचिद्भगवदनुग्रहवशात् सेवकस्य विशेषेच्छायां भावरूपा भगवदिच्छा विशेषाकृतिरूपेण तन्मनसः प्राकट्यमाप्नोति, साद्धा भगवदिच्छेत्यनुमित्या मन्तव्या सेवकैः । एवं हि गुर्वाज्ञाबाधनमबाधनं वा हरीच्छया भवतीति भावः । इन्द्रनीलरत्नं त्वतिमन्यरगतेः सर्ववर्णैरनपनोद्यवर्णैः तमसाप्यनुपनोद्यं च सर्ववर्णत्वात् । इन्द्रः परमात्मा परमैश्वर्यान् सकलरसायां जीवनरसवर्षणशीलः, अत एवाद्युदात्तस्तद्वदतिनिविडश्यामसुन्दरमूर्तिः, तस्येदम् । अनेन श्यामसुन्दरसेवायां मनःप्रभृतीनां वृत्तयोऽव्यावृत्ततया मन्यरगतयो रसमयस्थिरविद्युल्लतारूपा भवन्त्यत उक्तं सेवापरं चित्तं विधाय स्थीयतां सुखमिति । निविडरसकुञ्जसेवाया मन्यरा गतिर्भवतीति

सेवासक्त्या सकलं सिध्यतीति व्यञ्जितम् ।

गुरुणा परमेश्वरेण या कथिता सर्वरसप्रदायिनी ।  
 परमा तनुसेवना तथा बसुना स्वस्य च सा परा मता ॥ १ ॥  
 यदि सा त्वधिका ततो भवेन्मनसस्तस्य परात्मनः प्रभोः ।  
 परमेष्ठतयावगम्यतां निजभक्तैरवरुध्य चेन्द्रियम् ॥ २ ॥  
 स्थिरतामुपगम्य सेवयावसरेऽन्यत्र कथारसैस्तथा ।  
 रबिनन्दनरत्ननीलतां रमणीयां हृदये विचिन्तयेत् ॥ ३ ॥  
 इन्द्रनीलमणिवद्विराजिता सर्ववर्णसमवायदेवता ।  
 मन्दमन्दगतिमद्रसान्विता मे मनस्यविरतं विराजताम् ॥ ४ ॥

यद्यप्यनेन भगवत्सेवायां देहेन्द्रियाणां स्थिरतोपदिष्टा, तथापि 'यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः । इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाग्भसी'त्यादिवाक्यैर्बायोरेव मनसो दुर्ग्रहत्वेनानेकदुःखोत्पत्त्या चित्तोद्विग्नतायां सेवाया असम्भवात् तन्निवृत्त्यर्थं गोमेदाख्यं विधुंतुदस्याष्टमं रत्नमाहुः चित्तोद्वेगमित्यादिना ।

चित्तोद्वेगं विधायापि हरिर्यद्यत्करिष्यति ।

तथैव तस्य लीलेति मत्वा चिन्तां द्रुतं त्यजेत् ॥ ८ ॥

सांसारिकानन्तदुःखजन्योद्वेगस्य चित्तधर्मतयाऽवश्यं प्रथमं भवनमित्यकृतोपि स कृतो भवतीति ऋकोक्तिः । तदुत्तरं सेवकस्य यत्कर्तव्यं तदाहुः हरिर्यद्यत्करिष्यतीत्यादिना । सेवकानां सकलदुःखहर्ता हरिर्यद्यदनेकविधं दशललितलकारप्रकृतिबोधितफलाश्रयं करिष्यति, तथैव तस्य हरेर्लीलेति मनसि ज्ञात्वा चिन्तां शीघ्रं विसृजेत् । विधौ लिङ् । विधिः कर्तव्यार्थोपदेशः । करिष्यतीति वर्तमानसामीप्ये लुट् । अनेन वर्तमानकार्यं भविष्यत्कार्यं सकलं भगवल्लीलेति सेवकैर्मन्तव्यमिति भावः । अतीतसमये स्मृतिमात्र आनन्द उपलक्षणत्वेन वेद्यः । वर्तमानस्यानुभूयमानागणितानन्दत्वे रसाधायकत्वम् । भविष्यति तु भाविनि कार्येऽत्युत्कण्ठितं मन इति रसाधायकत्वमिति त्रिष्वपि समयेषु यद्यत्कार्यम्, सा लीला । एवं च सदा चिन्तात्यागे गवामिन्द्रियाणां तेषामाधारसारूपमङ्गलदेहस्य बोधकवाणीनां च स्नेहात्मकभेदो वृद्ध्या गोमेदो विधुंतुदरत्नप्रकाशकस्यास्य भवति । किञ्च, भगवत्सेवकमानसचन्द्रस्य भगवद्वियोगजरसं रूपस्फूर्त्या तत्तल्लीलायाः स्मरणात् तन्मयत्वेन ब्रह्मभूयं लब्ध्वा परब्रह्मभगवत्प्राप्तिरविलम्बेन भवतीति श्रुतिरहस्यार्थोऽनेन व्यञ्जितः ।

चिन्तात्याजनतस्त्वेन विदुषां वाणीहृषीकादिकाः  
 पुष्टिं यान्ति निरन्तरं विधुमनःखेदं विधायाद्भुतम् ।  
 शीघ्रं प्राप्तिरतो यतो भगवतो लक्ष्मीपतेरञ्जसा  
 गोमेदाभिधरत्नरूपत इदं मे मानसे भासताम् ॥ १ ॥  
 गोपालगोरक्षणधर्महेतोर्वैश्यत्वमङ्गीकृतमत्र विद्वन् ।  
 वसुन्धरां गां परिपालनाय कृतावतारत्वमुपेक्षसे कथम् ॥ २ ॥  
 ब्रह्मण्यदेवासु निजेषु कश्चिन्नियोजनीयः सुरतावनाय ।  
 नो चेत् कथं ते बिरुदं स्थिरं स्यात् कृपानिधेऽनन्त शरण्य विद्वन् ॥ ३ ॥  
 इति मुरलीधरवाण्या देहहृषीकाणि पुष्टिमुपयान्तु ।  
 मुरलीधरस्य सततं श्रीगोपालप्रसादेन ॥ ४ ॥  
 इत्यष्टमं गोमेदाख्यं रत्नम् ॥ ८ ॥

नन्विदानीन्तनानां सेवकानां श्वः श्वः पापिष्टदिवसत्वेन देशादीनां साधकत्वाभावात् श्रवणादीनां सम्यक्तयाऽसम्भवात् पूर्वोक्तप्रकाराणां सुतरामसम्भवाच्च कथं फलप्राप्तिरित्याशङ्क्य सा भवत्यनायासेनेति तत्प्रकारः त्रिसूत्रापरपर्यायेण नवमेन वैदूर्यरत्नेनाहुः तस्मादिति ।

तस्मात् सर्वात्मना नित्यं श्रीकृष्णः शरणं मम ।

वदन्निरेव सततं स्थेयमित्येव मे मतिः ॥ ९ ॥

यस्मात् पूर्वोक्तं कर्तुमशक्यम्, तस्माद्धेतोः सर्वात्मना वाचा व्यक्ततया मनसान्तरव्यक्ततया तदर्थानुसन्धानपूर्वकं सदा

आसुरावेशाभावायाष्टाक्षरमुच्चारयद्भिरेव सेवकैः स्येयम् । यथा मनसोऽन्यत्र वृत्तिर्न भवति, तथा विधेयमिति मे मनीषाऽस्तीत्युपदेशः । अयं भावः । श्रीकृष्ण इति विशेषणम्, शरणमिति विशेष्यम्, त्र्यक्षरं सूत्रद्वयम् । ततः समसम्बन्धबोधकं द्वयक्षरमपि परोक्ष्वास्तिना त्र्यक्षरीति नव । किञ्च । जीवात्मनः सम्बन्धबोधकं द्विधा, अव्ययमनव्ययं च । अव्ययात् विकाररहितात् पुष्टिमार्गीयसिद्धा पुष्टिमार्गीयाणाम्, साध्येतरेषामिति भावः । भक्तबोधकादनव्ययाच्च प्रवाहमार्गीयभक्तबोधकादस्तीति लीलाबोधकं पदमस्त्विति वा शेषत्वेन विद्वैर्विज्ञेयम् । एवं च सलीलाप्रकाशकत्वेन सह त्र्यक्षरी तृतीयेति नवाक्षरी परमावधिसङ्ख्या वेद्या । एता ब्रह्मसूत्राक्षररूपाः सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धैर्धृताः, सदैव शिखायज्ञोपवीतधारणं ब्रह्मवैवर्ते व्यक्तम् । ब्रह्मादिभिश्च सहजातत्वेन तद्धारणमन्त्र उक्तत्वादतः सदा धारणम् । 'सदा बद्धशिखेन चे'तिकारिकावन्मालापि सदा धार्या । मलधातोर्धारणार्थकत्वात् । मल्यते सदा ध्रियते सा माला ।

अनुपमसुवर्णरत्नैरद्भुतमाला वसुमितैर्विहिता ।

मध्यश्रीमाणिक्या विराजतां मामके मनसि ॥ १ ॥

इत्थं नवाक्षरीयं परोक्षनित्यास्तिना चोक्ता ।

प्रत्येकं व्यक्तीनां स्वरूपमस्या विराजतां हृदये ॥ २ ॥ ९ ॥

तत्र प्रथमं जगन्मङ्गलमङ्गलमूर्तिर्भगवदुरसि स्थितेन श्रीवर्णेन सकलरत्नसुवर्णरससम्भृता नित्यानन्ता द्वितीया प्रकृतिः संसिद्धयर्थिका विराजेते । द्विसुवर्णाकृतिवर्णो यत्र । अत एवादिर्विस्तरेण विस्ताराय श्रेष्ठभानुकीर्तिवैद्यपरम्परया प्रकाशकौ यत्र द्वौ सदा विराजमानौ सिद्धसाध्यौ यथा रामित्युक्तं श्रुत्यानुनासिकौ तौ तु व्यबहार्याव्यवहार्यौ । तत्र पूर्वो गत्यर्थप्रकृतिश्चतुर्थः ।

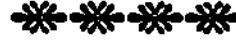
इति श्रीमुरलीधरभट्टविरचिता नवरत्नटीका संपूर्णा ।



श्रीकृष्णाय नमः ।

# नवरत्नम् ।

श्रीलालूभट्टस्य ।



अथ नवरत्नग्रन्थविषये किञ्चिद्विस्तृतम् । 'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्' 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' 'वशो कुर्वन्ति मां भक्त्या' 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येती'त्यादिवचोभिः प्रेमलक्षणाया भक्त्या भगवान् लभ्यः । 'दारान् सुतान् गृहान् प्राणा'नित्यारभ्य 'उद्धवात्मनिवेदिनां मयि सञ्जायते भक्ति'रित्यन्तेन वाक्येन प्रेमलक्षणाया निवेदनलभ्यत्वम् । निवेदनं च देहादिषु स्वकीयत्वाध्यासनिवृत्तिपूर्वकभगवदीयत्वबुद्धिसम्पादने भवति । 'क्रीडार्पमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुषियोऽपर ईश कुरु'रित्यादिवचनैर्निखिलवस्तूनां भगवदीयत्वात्तदीयत्वबुद्धिसम्पादनेन देहादीनां भगवत्सेवोपयोगिकरणस्य निवेदनपदार्थत्वात् । जाते च निवेदने पुनरिष्टानिष्टप्राप्तिनिवृत्त्युपायविमर्शनादिरूपचिन्ताकृतौ स्वकीयत्वाभिमानेन बाहिर्मुख्यसम्भवाभिवेदनवैयर्थ्यं स्यात् । तथा सति न निस्तार इति परमकृपालुभिराचार्यचरणैश्चिन्तारूपप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं 'चिन्ता कापि न कार्ये'त्याद्युपदिदिशे ।

अब 'नवरत्नग्रंथ' के विषय में कुछ लिख रहे हैं । "भगवान् केवल निष्काम भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं, शेष सभी तो मात्र विडम्बना है (श्री.भा. ७/७/५२)", "मैं केवल भक्तिको ही प्राप्त होता हूँ (श्री.भा. ११/१४/२१)", "भक्त्यैव तुष्टिमभ्येती" इत्यादि वचनों के द्वारा सिद्ध होता है कि भगवान् केवल प्रेमलक्षणा-भक्ति द्वारा ही प्राप्त होते हैं । "पत्नी, पुत्र, गृह, प्राण इत्यादि जो स्वयं को प्रिय लगता हो, उसका प्रभु में निवेदन करना चाहिए (श्री.भा. ११/३/२८)" इस वाक्य से लेकर "हे उद्धव ! मुझमें भक्ति हो जाने के पश्चात् आत्मनिवेदियों के लिए और क्या प्राप्त करना शेष रह जाता है ? (श्री.भा. ११/१/२४)" इस वाक्य तक यह सिद्ध होता है कि प्रेमलक्षणा-भक्ति निवेदन करने से प्राप्त होती है । और निवेदन तो समस्त पदार्थों में स्वकीयत्व के अध्यास (भ्रम) की निवृत्तिपूर्वक भगवदीयता की बुद्धि रखने पर सिद्ध होता है । और "हे प्रभु! आपने अपनी क्रीडा के लिए ही इस जगत की रचना की है और जो कुबुद्धि हैं, वे ही खुद को इस जगत का स्वामी मानते हैं (श्री.भा. ८/२२/२०)" इस वाक्यानुसार समस्त वस्तुएँ भगवदीय होने के कारण उनमें भगवदीयता की बुद्धि रखने के द्वारा देह-आदि का भगवत्सेवा में उपयोग करने से ही निवेदन परिपूर्ण होता है । और एक बार निवेदन हो जाने पर पुनः 'इष्ट की प्राप्ति' एवं 'अनिष्ट की निवृत्ति' के उपायों का विचारविमर्श करने से होती हुई चिन्ता को करने से स्वयं में भगवदीयता का अनुसंधान न रहकर स्वकीयता का अभिमान पैदा हो जाता है एवं बहिर्मुखता हो सकती है । ऐसी परिस्थिति में निवेदन व्यर्थ हो जाता है । अतः "ऐसे में जीव का कल्याण होना संभव नहीं है" यह विचार कर परमकृपालु आचार्यचरणों ने प्रभुसेवा में होने वाली चिन्तारूप प्रतिबंध की निवृत्ति के लिए "कोई भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए" इत्यादि वाक्यों से नवरत्नग्रंथ में उपदेश दिया है ।

तथापि निवेदनस्य श्रवणाद्यष्टकानन्तरभावित्वात् श्रवणादीनां च प्रत्येकं दुरापतया निवेदनस्य सुतरां तथात्वेन प्रेमलक्षणाया अनुत्पत्त्या कथं भगवदासिरित्याशङ्क्य 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'त्यष्टाक्षरमन्त्रो निरन्तरमावर्तनीयः, तेन च सर्वानुपपत्तिपरिहारः सकलसिद्धिश्चेत्युपदिष्टम् । तत्र कथमनुपपत्तिपरिहारपूर्वककार्यसिद्धिरित्याकाङ्क्षायां तदाशयं विवृण्वन्ति प्रभुचरणाः 'साधनफले एकीकृत्य सर्वसमाधानमाहु'रित्या-भासग्रन्थेन । 'श्रीकृष्णः शरणं ममे'त्यष्टाक्षरमन्त्रे साधनफलयोरेकीकरणात्सर्वसमाधानमिति भावः । तथाहि । श्रीकृष्णः फलरूपः निःसाधनजनोद्धृतिकृताभिव्यक्तिः सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा मम निःसाधनस्य शरणं आश्रयः शक्याशक्यसम्पादक इति मन्त्रार्थः ।

तथापि, चूँकि निवेदन तो श्रवण आदि आठ प्रकार की भक्ति के पश्चात् आता है और जहाँ ये श्रवण-आदि प्रत्येक आठ प्रकार की भक्ति ही प्राप्त होनी दुर्लभ हो, वहाँ निवेदन प्राप्त होना तो और भी दुर्लभ है । अतः प्रेमलक्षणा भक्ति भी उत्पन्न नहीं होती है और

तब भगवद्-प्राप्ति भी कैसे होगी ? यह शंका होने पर आचार्यचरणों ने 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इस अष्टाक्षरमंत्र का निरंतर आवर्तन (पाठ करना) करना कहा है, जिससे समस्त समस्याओं का परिहार हो जायेगा एवं सकल सिद्धि प्राप्त हो जायेगी, इस प्रकार का उपदेश किया है । यहाँ पर "समस्त समस्याओं का परिहार होकर कार्यसिद्धि किस प्रकार से हो जायेगी ?" इस शंका के प्रत्युत्तर में प्रभुचरणों ने इसका आशय "साधन एवं फल को एक करके समाधान कह रहे हैं" इस वाक्य द्वारा अपनी टीका में विवरण किया है । यहाँ उन्होंने 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इस अष्टाक्षरमंत्र में साधन और फल को एक करने से सभी का समाधान हो जाता है, यह भाव बताया है । और वह इस प्रकार कि, श्रीकृष्ण फलरूप हैं एवं निःसाधनजनों के उद्धार के लिए ही प्रकट हुए हैं । ऐसे सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा-प्रभु ही मुझ निःसाधन के शरण/आश्रय हैं अर्थात् संभव या असंभव सभी कार्यों के संपादक हैं, यह अष्टाक्षरमंत्र का अर्थ है ।

यद्यपि स्वायोग्यताविचारे श्रवणादिसाधनदौर्लभ्येन भगवत्प्राप्तिसैनैश्चिन्त्याभावः, तथापि प्रभोः पुष्टिस्वरूपविचारे शरणागतौ सर्वं सुलभम् । 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरा'दित्यादिवाक्यात् । तत्र साधनक्रमेण चेदुबिधीर्षुः, तदा जीवाशक्यानपि श्रवणादीन् सम्पाद्योद्धरति । अन्यथा विनापि साधनं कृतार्थयति । अतः शरणगमनं पुमर्थसाधनम् । अत एव 'शरणं भावयेद्धरि'मिति श्रीमदाचार्यैरुक्तम् । 'भक्तद्रोहे भक्त्यभाव' इति च । इह भक्त्यभावे भक्तिसिद्धयर्थं हरिं शरणं भावयेदित्यर्थः । प्रकृतेपि श्रवणादिनवविधभक्तीनां दौर्लभ्यं ज्ञात्वा नवविधभक्तिसिद्धयर्थमेतन्मन्त्रावृत्तिरूपदिष्टा । अतः प्रमाणबलविचारेण पूर्वपक्षः । प्रमेयबलविचारेण समाहितिरिति ज्ञेयम् । तथाच फलमेव साधनीकृत्येति फक्किकार्यः । अनेन 'श्रीकृष्णः शरणं मम'ति मन्त्रार्थो व्याख्यातो ज्ञेयः ।

यद्यपि स्वयं की अयोग्यता का विचार करें एवं यह भी विचार करें कि अपने लिए तो श्रवण आदि भक्ति के साधन भी दुर्लभ ही हैं, तो निश्चित ही भगवत्प्राप्ति नहीं होगी तथापि यदि प्रभु के पुष्टिस्वरूप का विचार करें तो उनके शरणागत होने पर सभी कुछ सुलभ हो जाता है । यह बात 'मै मृत्युरूप संसारसागर से उनका उद्धार करता हूँ (म.गी. १२/७)' वाक्य से भी सिद्ध होती है । और यदि वे साधनक्रम से जीव का उद्धार करने की इच्छा करते हैं तो उसके लिए अशक्य श्रवण-आदि भी संपादित करके उसका उद्धार करते हैं । अन्यथा तो साधनों के बिना भी उसे कृतार्थ कर देते हैं । अतः एवं भक्तों के लिए उनकी शरणागति ही सबसे बड़ा साधन है । इसी कारण श्रीमदाचार्यों ने भी 'हरि की शरणागति की भावना करनी चाहिए (वि.धै.आ./१६)' एवं 'यदि किसी भक्त का द्रोह हो जाए अथवा भक्ति का अभाव हो, तब भी हरि ही सर्वथा शरण हैं (वि.धै.आ./११)' यह कहा है । यहाँ भक्ति के अभाव में भक्ति की सिद्धि के लिए हरि की शरणभावना करनी चाहिए, यह अर्थ है । इस ग्रंथ में भी जीव के लिए श्रवण-आदि नवधाभक्ति दुर्लभता जानकर नवधाभक्ति की सिद्धि के लिए आचार्यचरणों ने इस अष्टाक्षरमंत्र आवृत्ति (निरंतर अष्टाक्षर लेते रहना) का उपदेश दिया है । अतः प्रमाणबल का विचार करने पर तो (अर्थात् जब प्रभु साधनों द्वारा अंगीकार करना चाहते हों तब) पूर्व में कहे श्रवण-आदि नौ प्रकार भक्ति के साधन हैं और प्रमेयबल का विचार करने पर (अर्थात् जब प्रभु साधनों की अपेक्षा न रखकर स्वयं कृपा करके अंगीकार करें तब) शरणागति लेने पर प्रभु उसके साधनों की अपेक्षा न रखते हुए उसका अंगीकार कर लेते हैं, यह उपर्युक्त समाधान जान लेना चाहिए । इस प्रकार फल को ही साधन बना कर प्रभु अंगीकार करते हैं, यह फक्किका का अर्थ है । इस प्रकार से उपर्युक्त विश्लेषण द्वारा 'श्रीकृष्णः शरणं मम' मंत्र के अर्थ का व्याख्यान किया गया, यह जानना चाहिए ।

किञ्च । अयं मन्त्रो नेतरसाधारणः । किन्तु पुष्टिमार्गीयः । समर्पणगद्यवत् । अत एव प्रभुचरणैरभिहितं 'यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम । तत एवास्ति नैश्चिन्त्यमैदिके पारलौकिक' इति । पुष्टिमार्गीयत्वं च भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलाभाववत्त्वम् । तथाच पुष्टिस्थैरयं मन्त्रो नवरत्नमावर्तनीयः । मनसा पूर्वोक्ततदर्थानुसन्धानेन शरणभावनं च कार्यम् । अत एवोक्तम्, 'एवं चित्ते सदा भाव्यं वाचा च परिकीर्तये'दिति । एवं प्रपत्तौ भगवानज्ञक्यमपि साधयिष्यतीति निष्कर्षः । अत एव तद्विवृतौ प्रभुचरणैरुक्ते 'सर्वात्मना शरणागतौ प्रभुरेव सम्पादयिष्यतीति हृदय'मिति । तथा सति चिन्तालेशोपि नास्तीति प्रतिबन्धाभावे सिद्धे निवेदनसिद्धौ मुख्यभक्तिलाभः, तेन च भगवत्प्राप्तिरिति चिन्ताकरणनिराकरणनिरूपणस्य सार्थक्यमिति कोविदा एव विदाङ्गुर्वन्तु ।

और, यह मंत्र दूसरे मंत्रों की भाँति कोई साधारण मंत्र नहीं है अपितु समर्पणगद्यमंत्र की भाँति पुष्टिमार्गीय है । इसी कारण प्रभुचरणों ने भी "जो मेरे पितृचरणों ने "श्रीकृष्णः शरणं मम" कहा है, उसी मंत्र से हमें लौकिक-अलौकिक में निश्चितता है (वि.२/२३) यह कहा है । और, भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी फल की अपेक्षा जहाँ न हो, वही पुष्टिमार्गीयता है । और पुष्टिमार्गीयों को इसी अष्टाक्षरमंत्र को निरंतर आवर्तन करते रहना चाहिए । एवं पूर्व में कहे मंत्र के अर्थ का मन से अनुसंधान करते हुए शरणभावना करनी चाहिए । इसी कारण आचार्यचरणों ने "इस प्रकार सदा चित्त में हरिशरण की भावना करनी चाहिए एवं वाणी से उनका कीर्तन करना चाहिए (वि.धै.आ./



१३) यह कहा है। इस प्रकार से शरणागत होने पर प्रभु असम्व को भी सिद्ध कर देंगे, यह निष्कर्ष निकलता है। इसी कारण इस ग्रंथ के नौवें श्लोक के विवरण में प्रभुचरणों ने "सभी प्रकार से शरणागत होने पर प्रभु ही सभी कुछ संपादित करेंगे, यह हार्द है" इस प्रकार से कहा है। ऐसा होने पर लेशमात्र भी चिन्ता नहीं होती है और इससे फिर प्रतिबंध भी नहीं होते हैं और तब निवेदत की सिद्धि होकर मुख्यभक्ति प्राप्त होती है। उसी मुख्यभक्ति से तब भगवत्प्राप्ति होती है अतः इस प्रकार चिन्ता न करनेका निरूपण करना सार्थक हुआ, इसे विद्वान् ही जान सकते हैं।

नवरत्नप्रकाशे, 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदनेऽकृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः।' इयं फक्किका पूर्वफक्किकया न संगच्छत इति बहूनामार्याणां महानेबोधमोऽस्मिन्ग्रन्थे नानाविधोऽस्ति। परन्तुयमज्ञतेनापि न लगतीयं फक्किका। तत्रायं निष्कर्षो बोध्यः। इह लेखकादिदोषवशात्फक्किकानां वैपरीत्यं जातं लेखने। अतः फक्किकानामर्थस्वारस्यं विचार्य पूर्वापरभावं निर्धार्य फक्किका लिख्यन्ते। तथाहि। इह पूर्व 'निवेदने भजनाधिकारस्तस्मिन् सति तदनिर्वाह इत्युभयतः पाशारज्जुरिति चेत्' इति फक्किकास्ति। तत्रोत्तरमुक्तम्, 'अत्र बदाम' इत्यादिना। तत्र 'गायत्र्युपदेशजसंस्कारव'दित्यन्तेन निवेदनस्यावश्यकतोक्ता। एवं निवेदनस्यावश्यकत्वमुक्त्वा निर्वाहः केन कार्य इत्याकाङ्क्षायां 'निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा' इति फक्किकास्ति पठिता। तथाच देहादिनिर्वाहः केन कार्य इत्याकाङ्क्षायां 'निवेदितेन निर्वाहः कार्य इत्युत्तरं सिध्यति। तत्र किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायां 'दासधर्मत्वात्' इत्युक्तम्। तदग्रे भगवद्वाक्यं प्रमाणत्वेनोपन्यस्य निवेदितेन निर्वाहः कार्य इति ज्ञापनार्थं 'मुच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैः 'रात्मशोधकत्वाच्चे'ति पठितम्।

नवरत्नप्रकाश में - "अन्यथा पत्नी से विवाह करने के दूसरे ही क्षण यदि उसका भगवान में निवेदन न करें तो आगे वह स्वयं के लिए अनुपयुक्त हो जाती है एवं उससे किया गया विवाह ही व्यर्थ हो जाने की आपत्ति आती है" - प्रभुचरणों की इस पंक्ति की संगति पूर्व की पंक्ति के साथ नहीं बैठ पाती, ऐसा कहकर अनेक विद्वानों ने इस ग्रंथ में नाना प्रकार से महापरिश्रम किया है परंतु अनेक बार परिश्रम करने के पश्चात् भी इस पंक्ति की संगति नहीं बैठ पायी है। ऐसे में निष्कर्ष यह जानना चाहिए कि, यहाँ किसी लेखक-आदि के दोष से लिखने में कुछ पंक्तियाँ आगे-पीछे लिख दी गयी हैं। अतः अब हम प्रभुचरणों की इन पंक्तियों के गूढार्थ का विचार करके एवं पूर्वापर के भावों का (अर्थात् इन पंक्तियों के पूर्व में एवं पश्चात् आए हुए भावों का) निर्धारण करके पुनः लिख रहे हैं। वह इस प्रकार कि, इस पंक्ति से पूर्व में "निवेदन होने पर ही भजन का अधिकार प्राप्त होता है और निवेदन कर देने पर निवेदित वस्तुओं से स्वयं का निर्वाह नहीं हो सकता अतः परिस्थिति यह हो जाती है कि आगे कुंआँ तो पीछे खाई" यह पंक्ति है। इसका उत्तर प्रभुचरणों ने 'अब हम इसका समाधान कह रहे हैं' इस वाक्य द्वारा दिया है। वहीं फिर उन्होंने - "जिस प्रकार गायत्री-उपदेश के द्वारा वैदिक कर्मों का अधिकार प्राप्त होता है, वैसे ही निवेदन के पश्चात् भगवत्सेवा का" - इस वाक्य द्वारा निवेदन की आवश्यकता कही है। इस प्रकार निवेदन की आवश्यकता कह कर 'स्वयं का निर्वाह कैसे करना?' यह शंका होने पर 'निवेदित किए गये पदार्थों का जब भगवद्-भोग के लिए विनियोग होता है, तब भगवान के द्वारा दिए गये उस प्रसाद को अपने लिए उपभोग करना उचिततर है" इस प्रकार की पंक्ति है। और इसी प्रकार 'देहादि का निर्वाह कैसे करना?' यह शंका होने पर 'निवेदित पदार्थों से ही निर्वाह करना चाहिए' यह उत्तर सिद्ध होता है। इस उत्तर में 'प्रमाण क्या है' यह शंका होने पर प्रभुचरणों ने "क्योंकि यही दासधर्म है" यह कहा है। इसके पश्चात् भगवद्-वाक्यों को प्रमाणरूप से कहकर "निवेदित से ही निर्वाह करना चाहिए" यह बताने के लिए 'हम आपकी जूठन खाने वाले दास हैं (श्री.भा. ११/६/४६)' इत्यादि वाक्यों द्वारा उन्होंने यह कहा कि "भगवत्प्रसाद आत्मशोधक भी है"।

तदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदनेऽकृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः'रिति फक्किकया अन्यथानुपपत्तिः प्रदर्शिता। तदग्रे 'अपरञ्चे'त्यारभ्य 'अनिवेदितस्य निषिद्धत्वा'दित्यन्तेन निवेदनदानयोः पुनः स्वविनियोगतदभावाभ्यां वैलक्षण्यं प्रदर्श्य भगवदनिवेदितेन निर्वाहं निषिध्य भगवन्निवेदितपदार्थेन भगवदुपभुक्तशिष्टेन प्रसादतया प्राप्तेन निर्वाहः कार्य इति सिद्धान्तितम्। एवं फक्किकाक्रमे सर्वोऽपि ग्रन्थः सङ्गतो भवति। तथाच सिद्धमेतत्। 'द्विजस्य वैदिके कर्मणि गायत्र्युपदेशजसंस्कारव'दिति फक्किकाया अग्रे "निवेदितानामर्थानां भगवद्भोगार्थं विनियोगे जाते तद्वत्प्रसादत्वेन स्वोपभोगकृतिरुचिततरा। दासधर्मत्वात्। 'उच्छिष्टभोजिनो दासा' इत्यादिवाक्यैः 'रात्मशोधकत्वाच्चे'त्यन्तो ग्रन्थो ज्ञेयः। एतदग्रे 'अन्यथा दारपरिग्रहोत्तरक्षण एव तन्निवेदनेऽकृतेऽग्रे तदविनियोगे प्राप्ते तत्परिग्रहवैयर्थ्यापत्तिः। अपरञ्च। दाने हि न स्वविनियोगः। न तु निवेदने। अन्यथा निवेदितान्नादेर्भोजनं न स्यात्। अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्' इत्यन्तो ग्रन्थोऽस्ति। तदग्रे 'किन्तु प्रभौ निवेदितार्थविनियोगे जातेऽग्रे तदर्थं यत्नः कार्यो न वेति भवति चिन्ते'त्यादिरूपो ग्रन्थोऽस्तीति सर्वमनवद्यम्।

### नवरत्नम् ।

इसके पश्चात् "अन्यथा....आपत्ति" इस पंक्ति के द्वारा निवेदन न करने पर विवाह की व्यर्थता प्रदर्शित की गई है। इन सबके पश्चात् 'अपरञ्च' इस शब्द से लेकर 'अनिवेदितस्य निषिद्धत्वात्' तक के शब्दों से 'निवेदन' एवं 'दान' में "किस का उपयोग स्वयं के लिए किया जा सकता है और किसका नहीं" यह विलक्षणता प्रदर्शित करके भगवान को निवेदित न किए गये पदार्थ से देहनिर्वाह का निषेध करके भगवान को निवेदित किए गये पदार्थ द्वारा अर्थात् भगवान के द्वारा उपभुक्त किए गये पदार्थों से शेष बचे पदार्थ को प्रसादरूप ग्रहण करके निर्वाह करना चाहिए, यह सिद्धांत स्थापित किया गया । अतः इस प्रकार से पंक्तियों को बैठाने पर उनकी मूलग्रंथ से संगति मिल जाती है । और यह संगति ठीक है क्योंकि "द्विजस्य.....वत्" इस पंक्ति के आगे ही "निवेदितानां.....दासा" इत्यादि वाक्यों के द्वारा 'आत्मशोधकत्वाच्च' यहाँ तक की पंक्तियाँ मूलग्रंथ के साथ बराबर मिलती चली जाती हैं । इसी के आगे "अन्यथा.....निषिद्धत्वात्" यहाँ तक की पंक्तियाँ भी ग्रंथ में हैं। और इसके पश्चात् "किन्तु.....चिन्ता" इत्यादि पंक्तियाँ भी ग्रंथ में हैं और संगति उचितरूप से बैठती चली जाती है, अतः यह सभी कुछ उचित ही है ।

